भगवान् महावीर

समर्पण

सत्य और अहिंसा के
सतत उपासक
युग-पुरुष विनोबा को
सादर

—सम्पादक

श्री विनोबाजी से प्राप्त

बंगाल यात्रा
१५-९-६१

श्री धीरजलाल शाह,

श्री 'वीर-वचनामृत' जो गुजराती में छपा है अुसका हिंदी अनुवाद पाठकों के सामने पेश कीया जा रहा है यह खुशी की बात है।

महावीर स्वामी के वचनों का संग्रह करनेवाली दो कीताबें अिसके पहिले प्रकाशित हो चुकी हैं। अेक श्री संतबालजी की 'साधक सहचरी' दूसरी श्री ऋषभदास रांका से प्रकाशित की हुअी (पं० बेचरदास दोशी सम्पादित) 'महावीर वाणी'।

'वीर-वचनामृत' अुन दोनों से अधिक व्यापक है। मेरी तो सूचना है की भारत के चुने हुअे दस-बीस दर्शन-ज्ञान-चरित्र संपन्न जैन वीद्वानों की अेक समीती महावीर स्वामी के वचनों का सर्वमान्य संग्रह पेश करने के लिये बैठनी चाहिये। अगर वैसा हो सका तो जैन और जैनेतर दोनों के लिये अेक प्रामाणीक आधार ग्रंथ मील जायगा।

अिन ग्रंथों में मूल के साथ अुसका संस्कृत रूपांतर भी पेश करने से पाठकों को सहूलियत होती है।

विनोबा का जय जगत्

प्रकाशकीय

भारत के ऋषि-महर्षि एवं सन्त-समुदाय ने जो नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक उपदेश दिया है उसमें भगवान् महावीर का उपदेश विशिष्ट स्थान रखता है। परन्तु यह उपदेश अर्धमागधी भाषा में है और जैन सूत्रों में यत्र तत्र बिखरा हुआ होने से सर्वसाधारण जनता तक नहीं पहुँच पाता है। इस समस्या को हल करने के लिए हमारे पूज्य पिता श्री शतावधानी पंडित श्री धीरजलाल शाह ने जैन सूत्रों का दोहन करके 'श्री वीर-वचनामृत' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें मूल वचन उनका आधार-स्थान और सरल-स्पष्ट गुजराती अनुवाद के साथ आवश्यक विवेचन भी दिया।

उक्त गुजराती संस्करण का प्रकाशन दिनांक १८ ११ ६२ को बम्बई में भव्य समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। जैन जनता ने उसका अभूतपूर्व सत्कार किया। ग्रन्थ की २ ०० प्रतियाँ हाथोंहाथ बिक गईं। उस समारोह के अवसर पर इस ग्रन्थ का हिन्दी संस्करण 'श्री महावीर-वचनामृत' नाम से प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

किसी भी कार्य की प्रारम्भिक स्थिति में कुछ न कुछ न्यूनताओं का रह जाना स्वाभाविक है इसलिए गुजराती संस्करण का पर्याप्त संशोधन किया गया। तदनन्तर मन्दसौर निवासी पं० रुद्रदेव त्रिपाठी

एम ए० साहित्य-सांख्य-योगाचार्य ने बड़े ही परिश्रम से केवल चार मास की अवधि मे उसका हिन्दी अनुवाद तैयार किया। उसका भी संशोधन हुआ और कलकत्ता मे रेफिल आर्ट प्रेस के अधिपति श्री शोभाचन्दजी सुराणा का पूर्ण सहयोग प्राप्त होने से फकत तीन मास की अवधि में यह ग्रन्थ सुन्दर ढग से छपकर तैयार हो गया। इसके प्रूफ-संशोधन में पं प्रभुदत्त शास्त्री साहित्य-रत्न साहित्य प्रभाकर ने पूर्ण सहायता की। हम इन महानुभावों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के लोकप्रिय एवं विद्वान् आचार्य श्री विजयधर्मसूरि जी महाराज ने जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज के बहुश्रुत मान्य विद्वान् तथा श्री अमर मुनिजी ने और दिगम्बर सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् प कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की तथा जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसीजी के शिष्यरत्न मुनिश्री नथमलजी ने विस्तृत और विशद प्रस्तावना से इस ग्रन्थ को अलंकृत किया। म मलगिरि शास्त्री, म म परमेश्वरानन्द शास्त्री और डॉ मङ्गल मिश्र मैमसूरशास्त्री ने मङ्गल भावना प्रदान की। मैं सर्व महानुभावों के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

धर्मोत्कर्ष-प्रवृत्ति के संचालक पूज्य विनोबाजी ने पत्र द्वारा विशिष्ट सुझाव देकर और हमारा अति आग्रह से इस ग्रन्थ का समर्पण स्वीकार कर हमें अति उपकृत किया है।

पू आ श्री विजय समुद्रसूरीश्वरजी महाराज, पू आ श्री विजय

[illegible]सूरीश्वरजी महाराज, पू० आ० श्री विजय समुद्रसूरीश्वरजी महाराज, पू० पंन्यास श्री धुरन्धरविजयजी गणिवर्य पू० पंन्यास श्री भानुविजयजी गणिवर्य पू० मुमुक्षु श्री भद्रानन्दविजयजी महाराज बम्बई-निवासी श्री रमणिकचन्द मोतीचन्द झवेरी और श्री बच्छराज [illegible] लंदन निवासी श्री मेघजी पथराज शाह, श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब के प्रधान मंत्री प्रो० पृथ्वीराज जैन एम० ए० कलकत्ता निवासी श्री मोहनलाल झवेरी श्री रमणीकान्त शाह, श्री छोटेलाल जैन श्री ताराचन्दजी बोथरा श्री भंवरलालजी नाहटा श्री [illegible] मालूकेजी और कई मित्रों तथा प्रशंसकों ने इस प्रकाशन में हार्दिकता दिखाई है इन सभी के हम अत्यन्त आभारी हैं।

कलकत्ता-जैन सभा ने तो इस प्रकाशन को अपना ही मान कर विशिष्ट प्रकाशन-समारोह की योजना की और वितरण आदि में भी सुन्दर सहयोग दिया। उसके प्रधान कार्यकर्ता श्री नवरतनमलजी सुराणा श्री कामचन्दजी रामपुरिया श्री दीपचन्दजी नाहटा श्री [illegible] नाहटा, श्री पन्नालालजी नाहटा आदि को हम कैसे भूलें ?

हम आशा रखते हैं कि हिन्दी भाषा भाषी जनता इस संस्करण को अपना कर हमें प्रोत्साहित करेगी।

ता० १-७-६१

नरेन्द्रकुमार शाह
प्रकाशक

विषयानुक्रम

●

वचनामृत

जाग्रित हो गई। उसी दिन से भगवान् महावीर का स्मरण-वन्दन-पूजन आदि अधिक रूप से करने लगा।

विद्याभ्यास समाप्त होने के बाद भगवान् महावीर के सम्बन्ध में कुछ लिखने की भावना मुखरित हुई और मैंने गुजराती भाषा में बालभोग्य शैली में 'प्रभु महावीर' नामक एक लघु चरित्र लिखा। विद्यार्थियों को वह प्रिय लगा तथा बम्बई के 'श्री जैन श्वेताम्बर एज्यूकेशन बोर्ड' ने उसे धार्मिक अभ्यासक्रम में जोड़ लिया। इसी के फलस्वरूप उसकी आज तक भी आवृत्तियाँ हो चुकी हैं।

इसके पश्चात् सर्वोपयोगी रूप से गुजराती भाषा में 'विश्ववन्द्य प्रभु महावीर' नामक एक छोटी पुस्तिका लिखी तथा उसकी एक ही वर्ष में १ ००० एक लाख (प्रतियाँ) समाज के करकमलों में प्रस्तुत की। उसकी द्वितीय आवृत्ति उस वर्ष में प्रकाशित हुई और केवल एक ही दिन में उसकी ११ ग्यारह हजार प्रतियाँ हाथों हाथ बिक गईं।

पिछले दस-बारह वर्षों में भगवान् महावीर के सम्बन्ध में पढ़ने विचारने तथा लिखने के प्रसंग अत्यधिक आये और उनकी उपासना तो कई वर्षों से अनवरत चल ही रही थी। इस दृष्टान्त में मेरे अन्तर में भगवान् महावीर के वचनों के प्रति श्रद्धा, प्रेम और विश्वास की भावना अति दृढ़ बन गई।

भगवान् महावीर के वचन वस्तुतः अमृततुल्य हैं क्योंकि वे विषय और कषायरूपी विष का शीघ्र शमन करते हैं और उनका पान करने वाले को अलौकिक आनन्द प्रदान करते हैं। साथ ही इन में जीवन-पोषण की पर्याप्त सामग्री भरी हुई है अतः सभी

मुमुक्षुओं को इन वचनों का स्वाध्याय प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

प्रस्तुत संकलन तैयार करते समय श्री उत्तराध्ययन सूत्र तथा श्री दशवैकालिक सूत्र का पूर्णरूप से उपयोग किया गया है। आजतक उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ-रत्नों की कई आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें गाथाओं के क्रमांक में एक-दो का अन्तर आता है। अतः प्रस्तुत संकलन को प्रचलित आवृत्तियों के साथ मिलाने पर कहीं-कहीं एकाध-दो गाथाओं का अन्तर होने की सम्भावना है जिसे पाठकगण किसी प्रकार की त्रुटि न समझें। ठीक वैसे ही मूल गाथाओं में भी कहीं-कहीं पाठान्तर है जो टीकाकारों के अभिप्राय एवं अर्थ-संगति को परिलक्षित करते हुए योग्य रूप से रखे गये हैं। अतः उनमें भी प्रचलित आवृत्ति की अपेक्षा कुछ स्थानों पर अन्तर होना स्वाभाविक है। लेकिन जब तक इन दोनों ग्रन्थों की सर्वसमान्य आवृत्ति तैयार न की जाय तबतक यह स्थिति बनी ही रहेगी।

प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में भगवान् महावीर के १००८ वचनों का सवा ४० धाराओं में सुव्यवस्थित ढंग से उपस्थित किया गया है। अतः पाठकगण किसी भी विषय पर भगवान् का मंतव्य क्या था वह आसानी से जान सकेंगे। फिर प्रत्येक वचन के नीचे उसका मूल आधारस्थान संकेत द्वारा सूचित किया गया है और स्पष्ट-सरस अनुवाद साथ योग्य विवेचन भी किया गया है। आखिर में अति आवश्यक समझ कर प्रकाशित वचनों का अकारादि क्रम भी जोड़ दिया है।

सम्पादकीय

भगवान् महावीर के वचनों के प्रति श्रद्धा प्रेम और विश्वास की रुचि मेरे जीवन में किस प्रकार उद्भूत हुई, इस सम्बन्ध में यदि यहाँ थोड़ा-सा उल्लेख किया जाय तो अनुचित नहीं होगा।

जैन कुटुम्ब में उत्पन्न होने के कारण भगवान् महावीर का नाम तो शैशवावस्था में ही श्रवण किया था तथा चौबीस तीर्थंकरों के नाम स्मरण करते-करते वह हृदय-पटल पर अंकित हो गया था। तदनन्तर मेरी धर्म-परायण माता ने महावीर-जीवन के कतिपय प्रसङ्ग सुनाये उनसे मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ था किन्तु उस समय मेरी आयु बहुत छोटी थी मेरा ज्ञान अति अल्प था।

चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मेरी जन्मभूमि (सौराष्ट्र के 'दामावाड़ा' गाँव) में मेरे दाहिने पैर में एक सर्प ने डंस लिया तब 'महावीर-महावीर' नाम रटने से ही पुनर्जीवन प्राप्त किया था।

फिर अहमदाबाद में रहते हुए विद्याभ्यास के दिनों में एक बार पर्युषण-पर्व के समय गुरुमुख से भगवान् महावीर का चरित्र मैंने आद्योपान्त सुना और मेरे मन में उनकी एक महत्त्वमयी मूर्ति

अङ्कित हो गई। उसी दिन से भगवान् महावीर का स्मरण-वन्दन पूजन आदि अधिक रूप से करने लगा।

विद्याभ्यास समाप्त होने के बाद भगवान् महावीर के सम्बन्ध में कुछ लिखने की भावना उत्पन्न हुई और मैंने गुजराती भाषा में बालभोग्य शैली में 'प्रभु महावीर' नामक एक लघु चरित्र लिखा। विद्यार्थियों को यह प्रिय लगा तथा बम्बई के 'श्री जैन श्वेताम्बर एज्यूकेशन बोर्ड' ने इसे धार्मिक अभ्यासक्रम में जोड़ लिया। इसी के फलस्वरूप इसकी आज तक नौ आवृत्तियाँ हो चुकी हैं।

इसके पश्चात् सर्वोपयोगी ढंग से गुजराती भाषा में 'विश्वबन्धु प्रभु महावीर' नामक एक छोटी पुस्तिका लिखी तथा उसकी एक ही वर्ष में १ एक लाख (प्रतियाँ) समाज के करकमलों में प्रस्तुत की। उसकी द्वितीय आवृत्ति गत वर्ष में प्रकाशित हुई और केवल एक ही दिन में उसकी ११ ग्यारह हजार प्रतियाँ हाथो हाथ बिक गई।

विगत दस-बारह वर्षों में भगवान् महावीर के सम्बन्ध में पढ़ने-विचारने तथा लिखने के प्रसंग उपस्थित आये और उनकी उपासना तो कई वर्षों से अनवरत चल ही रही थी। इस हालत में मेरे अन्तर में भगवान् महावीर के वचनों के प्रति श्रद्धा प्रेम और विश्वास की भावना अति दृढ़ बन गई।

भगवान् महावीर के वचन वस्तुतः अमृततुल्य हैं क्योंकि वे विषय और कषायरूपी विष का शीघ्र शमन करते हैं और इनका पान करने वाले को अलौकिक आनन्द प्रदान करते हैं। साथ ही इन में जीवन-शोधन की पर्याप्त सामग्री भरी हुई है, अतः इसी

मुमुक्षुओं को इन वचनों का स्वाध्याय प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

प्रस्तुत संकलन तैयार करते समय श्री उत्तराध्ययन सूत्र तथा श्री दशवैकालिक सूत्र का पूर्णरूप से उपयोग किया गया है। आजतक उपयुक्त दोनों ग्रन्थ-रत्नों की कई आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें गाथाओं के क्रमांक में एक-दो का अन्तर आता है। अतः प्रस्तुत संकलन को प्रचलित आवृत्तियों के साथ मिलाने पर कहीं-कहीं एकाध-दो गाथाओं का अन्तर होने की सम्भावना है, जिसे पाठकगण किसी प्रकार की भूल न समझें। ठीक वैसे ही मूल गाथाओं में भी कहीं-कहीं पाठान्तर हैं जो टीकाकारों के अभिप्राय एवं अर्थ-सगति को परिलक्षित करते हुए योग्य रूप से रखे गये हैं। अतः उनमें भी प्रचलित आवृत्ति की अपेक्षा कुछ स्थानों पर अन्तर होना स्वाभाविक है। लेकिन जब तक इन दोनों ग्रन्थों की सर्वसामान्य आवृत्ति तैयार न की जाय तबतक यह स्थिति बनी ही रहेगी।

प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में भगवान् महावीर के १०८ वचनों का संग्रह ४ धाराओं में सुव्यवस्थित ढंग से उपस्थित किया गया है। अतः पाठकगण किसी भी विषय पर भगवान् का मंतव्य क्या था वह आसानी से जान सकेंगे। फिर प्रत्येक वचन के नीचे उसका मूल आधारस्थान संक्षिप्त द्वारा सूचित किया गया है और स्पष्ट-सरल अनुवाद साथ योग्य विवेचन भी दिया गया है। आखिर में अति आवश्यक समझ कर प्रकाशित वचनों का अकारादि क्रम भी जोड़ दिया है।

ग्रन्थ के अग्रिम भाग में भगवान् महावीर की तिरंगी तस्वीर, तीन विद्वानों के प्राक्कथन और विस्तृत प्रस्तावना एवं भगवान् महावीर के जीवन की ऐतिहासिक रेखा भी दी गई है। अतः इस विषय में अनुराग रखनेवालों के लिए यह ग्रन्थ अति उपयोगी सिद्ध होगा ऐसी मेरी धारणा है। विशेष क्या? यह ग्रन्थ का पठन-पाठन सर्व के कल्याण का कारण हो।

बम्बई

दि. १-७-'६१ धीरजलाल शाह

प्राक्कथन

[१]

श्रमण भगवान् महावीर कैवल्यावस्था प्राप्त होने के बाद तीस वर्ष तक असंख्य जन-समुदाय को अपने विशिष्ट वचनामृत का पान कराते रहे। फलतः असंख्य आत्माएँ सदा-सर्वदा के लिए भवपाश से छूट गईं। विशेष क्या ? यह महाप्रभु का वचन श्रवण करने के प्रताप से पशु-पक्षी भी अपनी आत्मा का उद्धार करने में समर्थ बने।

विश्ववंद्य भगवान् महावीर के इस वचनामृत का संग्रह इनके पट्टशिष्य अर्थात् गणधर भगवन्तों ने आचारांग, सूत्रकृतांग आदि सूत्रों के रूप में व्यवस्थित किया और जैन शासन का अनुर्वित सब आज तक गुणवन्त श्रोताओं के मुख से ये सूत्रों को श्रवण कर आत्म-कल्याण की साधना में रत रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक शतावधानी पंडित श्री धीरज भाई ने भी भगवान् के इस वचनामृत को श्रमण-श्रेष्ठों के मुख से कई बार सुने और श्रद्धापूर्ण भावना से अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित किए ऐसा मेरा ख्याल है। फिर कई महानुभावों का ऐसा सुझाव रहा कि देवाधिदेव भगवान् महावीर के वचनामृत के इस अनमोल संग्रह को यदि सुव्यवस्थित ढंग से गुजराती हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में सरल-स्पष्ट

अनुवाद के साथ प्रकाशित किया जाय तो जैन और जैनेतर जनता के लिये अति मननीय सुन्दर विचार-सामग्री उपलब्ध हो जायगी जो उन्हें जैन सिद्धान्त और धर्म के हार्द तक पहुँचने में निःसन्देह सहायक सिद्ध होगी।

श्री धीरज भाई ने इस सुझाव को अपने पुरुषार्थी स्वभाव से अल्प समय में ही कार्यरूप में परिणत किया और जनता के सामने 'श्री वीर-वचनामृत' नामक गुजराती संस्करण भव्य समारोह पूर्वक रख दिया। जनता ने इसका सुन्दर सत्कार किया।

इस सत्कार से उत्साहित होकर श्री धीरजभाई ने अल्पावधि में ही उसका हिन्दी अनुवाद तैयार करवाकर मुद्रित भी करा लिया और अभी बंगाल देश की महानगरी कलकत्ता में इसका प्रकाशन हो रहा है। क्या श्री धीरजभाई का यह पुरुषार्थ सराहनीय एवं धन्यवाद के योग्य नहीं है?।

यदि पाठक वर्ग प्रस्तुत ग्रन्थ का वाचन मनन और निदिध्यासन करेंगे तो उनकी आत्मा परमात्मावस्था के पुनीत पथ पर सफलता पूर्वक प्रयाण करेगी इसमें तनिक भी शंका नहीं है।

बम्बई, २ जून १९६३   विजयधर्म सूरि

[२]

श्रमण भगवान् महावीर देश-विशेष तथा काल-विशेष की विभूति नहीं है। उनका दिव्य ज्योतिर्मय व्यक्तित्व देश और काल की क्षुद्र सीमाओं को तोड़कर सदा सर्वत्र प्रकाशमान रहनेवाला अजर-अमर व्यक्तित्व है। अनन्त सत्य का साक्षात्कार करने के लिए उन्होंने

भौतिक जीवन की समग्र सुख-सुविधाओं को ठुकराया। अन्तर्जीवन का विश्लेषण एवं मन्थन कर राग-द्वेष की वैकारिक कालिमा को दूर हटाया और अन्तर में शुद्ध बुद्ध निरञ्जन निर्विकार आत्म-सत्ता का साक्षात्कार किया।

भगवान् महावीर की वाणी वह पवित्र-पावनी निर्मल धारा है जिसमें निमज्जित होने से आत्मा अपने लोक-परलोक और लोकातीत तीनों प्रकार के जीवन को पावन एवं पवित्र कर लेता है। द्रव्य-गंगा तन के ताप को कुछ क्षणों के लिए भले ही शान्त कर दे किन्तु उसमें मन के ताप को शीतल करने की क्षमता नहीं है। परन्तु भगवान् की वाणी रूप निर्मलधारा मनुष्य के मनस्ताप को अनन्त शान्ति और शीतलता प्रदान करती है।

जन-जीवन के परिताप और पीड़ा को दूर करने के लिए भगवान् महावीर ने अकार-त्रयी की दिव्य देशना दी थी—अहिंसा अनेकान्त और अपरिग्रह। मन के वैरभाव को दूर करने के लिए अहिंसा बुद्धि की जड़ता और आग्रह को मिटाने के लिए अनेकान्त तथा समाज और राष्ट्र की विषमता को दूर करने के लिए अपरिग्रह परम आवश्यक तत्त्व है। इस अकार-त्रयी में भगवान् की समग्र वाणी का सार आ जाता है। शेष जो भी कुछ है वह सब इसी का विस्तार है।

आगम-महासागर का मन्थन करके, उसमें से भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश रूप अमृत कण निकालना और उसे सर्वजन हिताय एवं सर्वजन सुलाभ प्रस्तुत करना आज के साहित्यकार का सब से बड़ा कर्तव्य है। साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह अपनी प्रतिभा और

कला के अभिनव प्रयोग से पुरातन प्रतिष्ठित सांस्कृतिक तत्वों को अपने युग की अभिनव शैली में अभिव्यक्त कर के जनता-जनार्दन के हाथों में समर्पित करें।

धर्मप्रेमी पण्डित बेचरभाई द्वारा संकलित और सम्पादित "श्रीमहावीर वचनामृत" इस दिशा में एक सुन्दर और स्तुत्य प्रयास है। इसके पठन-पाठन से जन-जीवन को एक पावन प्रेरणा मिलेगी। हिन्दी में ही नहीं भारत की अन्य भाषाओं तथा अंग्रेजी में भी इसका रूपान्तर होना चाहिए। अधिक से अधिक मनुष्यों के हाथों में श्रमण भगवान् महावीर का यह सार्वकालीन शाश्वत सन्देश पहुंच सके, इस प्रकार के हर किसी प्रयास से मुझे परम प्रसन्नता होगी।

जैन भवन
लोहामण्डी आगरा
ता २२-१-६१

उपाध्याय
अमर मुनि

[१]

भगवान् महावीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर थे। उन्होंने बारह वर्षों की कठोर साधना के पश्चात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनकर जिस सत्य का प्रतिपादन अपनी दिव्य वाणी के द्वारा किया वह उनसे पूर्व के तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित सत्य से भिन्न नहीं था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भगवान् महावीर के पश्चात् जैन संघ में भेद पड़ जाने पर भी तात्त्विक मन्तव्यों में कोई भेद नहीं पड़ा। आज भी समस्त जैन संघों के तात्त्विक मन्तव्य वे ही हैं जो भगवान् महावीर के समय में अखण्ड जैन संघ के थे। यह कोई सामान्य बात

नहीं है। दोनों जैन सम्प्रदायों के दार्शनिकों ने भी यदि परस्पर में एक दूसरे का खण्डन किया तो स्त्री-मुक्ति और केवलि-मुक्ति को लेकर ही किया। इसके सिवाय उन्हें कोई तीसरा मुद्दा नहीं मिला। इन दो विषयों से सबन्धित बातों को यदि छोड़ दिया जाय तो समस्त जैन सम्प्रदायों की वाणी में आज भी वही एकरूपता मिल सकती है जो भगवान् महावीर की वाणी में थी।

उदाहरण के लिये श्री धीरजलालजी शाह के द्वारा कुछ आगमों से संकलित इसी श्री महावीर वचनामृत को रख सकते हैं। इसमें लिखतत्व सिद्ध जीवों का स्वरूप संसारी जीवों का स्वरूप कर्म-बाद कर्म के प्रकार, दुर्लभ संयोग मोक्षमार्ग साधनाक्रम कर्मविरण अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, सामान्य साधु-धर्म साधु का आचरण, अष्ट-प्रवचनमाता भिक्षाचरी भिक्षु को पहचान संयम की साधना विनय कुशिष्य काम भोग, प्रमाद, विषय कषाय सम्यक्त्व, षडावश्यक आदि ४ विषयों का संग्रह है। इसको जैन मात्र ही नहीं जैनेतर बन्धु भी बिना किसी संकोच के पढ़ सकते हैं।

धर्म के सामान्य नियम तो प्रायः समान हुआ करते हैं। उन्हीं समान नियमों को जीवन में अपनाने से मनुष्य में वैमत्य का विनाश होता है। अहिंसा सत्य अस्तैय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच संयम तप त्याग आदि ऐसे ही सामान्य नियम हैं। ये नियम किसी सम्प्रदाय से बद्ध न होकर धर्म सामान्य से सम्बद्ध हैं। जहाँ ये हैं वहाँ धर्म अवश्य है और जहाँ ये नहीं हैं वहाँ धर्म

नहीं है। किसी भी धर्म में हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, मायाचार, लोभ, असंयम आदि को धर्म नहीं माना। फिर भी इनको लेकर कोई नया धर्म नहीं होता। इनको मिटाने के लिये किसी को किसी की जान लेते या अपनी जान देते नहीं देखा जाता। इनका निषेध तो गौण हो गया है और इनके बदले ऐसे भी जो कुछ चलता रह सकता है वही मुख्य हो गया है। धर्म करना भी न पड़े और धर्मात्माओं में नाम लिखा जाये, ऐसे ही धर्म का आज बोलबाला है। इसी से धर्म और धर्मात्माओं के प्रति शिक्षित समाज की आस्था उठती जाती है। इस आस्था को बनाये रखने में 'श्री महावीर-वचनामृत' जैसे ग्रन्थ बड़े उपयोगी हो सकते हैं।

भगवान् महावीर कोई स्वयंसिद्ध शुद्ध, बुद्ध अनादि परमात्मा नहीं थे। वे भी कभी हमों में से थे। इसलिये उनके वचनामृत उस अनुभव का निचोड़ है जो उन्होंने अपने एक नहीं अनेक जीवनों में अर्जन किया। और उसके द्वारा स्वयं शुद्ध बुद्ध परमात्मा बनकर उस सत्यका साक्षात्कार किया जो इस चराचर विश्व का रहस्य बना हुआ है और फिर अपनी दिव्यवाणी के द्वारा उसे प्रकट किया।

भगवान् महावीर का युग देवताओं का युग था। देवताओं का ही डिंडिमनाद सर्वत्र सुनाई पड़ता था। उन्हें प्रसन्न करने के लिये बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे। उस समय का मानव देवताओं का गुलाम था। भगवान् महावीर ने उस दासता के बन्धन को काटकर मनुष्य को देवताओं का भी आराध्य बना दिया। और किसी स्वयंसिद्ध सर्वशक्तिमान् कर्त्ता-हर्त्ता-विधाता—ईश्वर की सत्ता से भी इन्कार कर

दिया। वह उनकी वैचारिक क्रान्ति थी। उनके धर्म का केन्द्र ईश्वर नहीं था और न वेद था किन्तु आत्मा था जिसे भुला दिया गया था। उसी भूली भटकी आत्मा को केन्द्र में रखकर भगवान् महावीर ने अपनी तत्त्वज्ञान-मूलक साधना की या साधना-मूलक तत्त्वज्ञान का सांगोपांग विवेचन किया। और सृष्टि के किसी रहस्य को 'अव्याकृत' कहकर उसे टाला नहीं।

सत्य को जानने से भी अधिक कठिन है सत्य को यथार्थ रूप में प्रकाशित करना क्योंकि ज्ञान पूर्ण सत्य को एक साथ जान सकता है किन्तु शब्द उसे एक साथ ज्यों का त्यों प्रकाशित नहीं कर सकता। शब्दोत्पत्ति क्रमिक तो है। फिर वक्ता अपने अभिप्राय के अनुसार वस्तु के धर्म को प्रामाण्य देता है। इन कारणों से उत्पन्न हुए विवाद या मतिभेद को दूर करने के लिये भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद के साथ स्याद्वाद और नयवाद का सम्यवतार दार्शनिक क्षेत्र में किया जिससे वैचारिक क्षेत्र में किसी के साथ अन्याय न हो। पूर्ण अहिंसक तो थे ही। इसीसे स्वामी समन्तभद्र ने अपने युक्त्यनुशासन में कहा है—

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं
नय-प्रमाणैः प्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥

हे जिन! तुम्हारा मत अद्वितीय है। एक ओर वह दया, दम, त्याग और समाधि को लिये हुए है दूसरी ओर उसमें नय और

प्रमाणों के द्वारा प्रकृत वास्तविक अर्थ को ग्रहण करने की व्यवस्था है। इसी से कोई वादि उसे सन्मार्ग से पराजित नहीं कर सकता।

उन्हीं जिनेन्द्र भगवान महावीर के वचनामृत के इस संकलन को श्री धीरजमलजी शाह ने सम्पादित किया है। मेरा उनसे प्रथम परिचय इसी संकलन के माध्यम से हुआ। और उनकी प्रेरणा से इस प्रथम परिचय के उपहार रूप मे अपने दो शब्द पाठकों को भेंट करता हूँ। इसके नये संस्करण में इस संकलन को और भी परिमार्जित और विस्तृत किया जाये ऐसी मेरी भावना है।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
वाराणसी
दि २२ ९-६६

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

● आत्म जिज्ञासा की सम्पूर्ति

भगवान् महावीर आत्म-साक्षात्कार के महान् प्रवर्तक थे। आत्म साक्षात्कार अर्थात् सत्य का साक्षात्कार। सत्य का उपदेश वही दे सकता है जो उसका साक्षात्कार कर पाता है। भगवान सत्य के अनन्त धर्मों के द्रष्टा थे। पर जितना देखा जाता है उतना कहा नहीं जा सकता। भगवान ने जिन सत्यों का निरूपण किया, वे भी हमें पूर्णतः ज्ञात नहीं हैं। मनुष्य जितना ज्ञात की ओर झुकता है उतना अज्ञात की ओर नहीं। भगवान महावीर ने अहिंसा सत्य आदि का उपदेश दिया जातिवाद की तात्विकता का खण्डन किया यज्ञ हिंसा का विरोध किया आदि-आदि। जो ज्ञाततथ्य हैं वे ही उनकी गुण-गाथा में गाए जाते हैं। किन्तु भगवान ने जीवन के ऐसे अनेक ध्रुव-सत्यों पर प्रकाश डाला जिन पर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट नहीं होता, क्योंकि वे हमारे लिए ज्ञात होकर भी अज्ञात हैं। अज्ञात को पकड़ने में जो कठिनाई होती है उससे कहीं अधिक कठिनाई होती है उसे पकड़ने में, जो ज्ञात होकर भी अज्ञात होता है।

आत्मा देह से भिन्न है, आत्मा ही परमात्मा है—यह हमें ज्ञात है फिर भी हम इस सत्य को तब तक नहीं पकड़ पाते जब तक हम स्वयं सत्य नहीं बन जाते। भगवान महावीर का सबसे श्रेष्ठ उपदेश यही है कि तुम स्वयं सत्य बनकर सत्य को पकड़ो। वह तुम्हारी पकड़ में आ जाएगा। तुम असत्य रहकर उसे नहीं पा सकोगे।

दुःख कामना से उत्पन्न होता है—यह जानते हुए भी मनुष्य दुःख मिटाने के लिए कामना के जाल में फँसता है। वैर—वैर से बढ़ता है—यह जानते हुए भी मनुष्य वैर को बढ़ावा देता है। शस्त्र अशान्ति को उत्तेजित करता है—यह जानते हुए भी मनुष्य शान्ति के लिए शस्त्र का निर्माण करता है। भगवान ने कहा—दुःख का पार वही पा सकता है जो कामना को जानता है और उसे छोड़ना भी जानता है। वैर का पार वही पा सकता है जो वैर के परिणाम को जानता है और उसे छोड़ना भी जानता है। शस्त्र का पार वही पा सकता है जो अशान्ति को जानता है और उसे छोड़ना भी जानता है। भगवान की भाषा में वह ज्ञान ज्ञान नहीं जो त्याज्य को त्याग न सके। उनका ज्ञान भी आत्मा है, दर्शन भी आत्मा है और चारित्र भी आत्मा है। भगवान का सारा धर्म आत्ममय है। उनका सारा उपदेश आत्मा की परिधि में है। इसलिए जो कोई आत्मवीर होता है जिसमें आत्म-जिज्ञासा या आत्मोपलब्धि की कामना प्रबल हो जाती है उसके लिए भगवान महावीर की वाणी को पढ़ना अनिवार्य या सहज प्राप्त हो जाता है।

● अहिंसा और धर्म

भ० महावीर श्रमण-परम्परा में अवतीर्ण हुए। उन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा स्वीकार की। भगवान् ऋषभ ने धर्म की स्थापना की। मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म की व्यवस्था की। भगवान् महावीर ने पुनः पंचयाम धर्म की स्थापना की। इसका कारण यह बतलाया गया है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु जड़ थे इसलिए पंच याम की व्यवस्था की गई—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पृथक्-पृथक् महाव्रत माने गए। मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु ऋजु-प्राज्ञ थे इसलिए चातुर्याम से काम चल गया। ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही शब्द—'बहिद्धादानविरमण' में संग्रहीत कर लिया गया। भगवान् महावीर के शिष्य वक्र-जड़ हुए इसलिए उन्हें पुनः भगवान् ऋषभ का अनुसरण करना पड़ा। यह युक्ति सुन्दर है, फिर भी इस व्यवस्था-भेद का मूल कारण यही है यह समझने में कठिनाई है। यह बहुत ही मीमांसनीय विषय है। जिस प्रकार अहिंसा धर्म के लिए सब तीर्थंकरों की एकसूत्रता बतलाई है उसी प्रकार अन्य धर्मों की नहीं बतलाई, इसका कारण क्या है? या तो अहिंसा में शेष सारे धर्मों को वे समाहित कर लेते थे अथवा कोई दूसरा कारण था—निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म में आचार का स्थान बहुत प्रमुख रहा है। एक दृष्टि से उसे आचार और नीति धर्म का प्रवर्तक कहा जा सकता है। जीवन की सारी प्रवृत्तियों की व्याख्या एक अहिंसा शब्द के आधार पर की जा सकती है। संभव है इस दृष्टि से ही अहिंसा को सब तीर्थंकरों का समान धर्म माना गया हो।

यह मानने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि जैन धर्म जो है वह अहिंसा है और जो अहिंसा है वह जैन धर्म है।

● अहिंसा और सत्य

कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि जैनाचार्यों ने अहिंसा पर जितना बल दिया उतना सत्य पर नहीं। यह उनका अपना दृष्टिकोण है इसलिए उसकी अवहेलना तो नहीं की जाय पर उनके सामने दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सकता है। भगवान् महावीर की दृष्टि में अहिंसा और सत्य में कोई द्वैत नहीं है। आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था —परमात्मरूप—जो है, वह अहिंसा है। सत्य उससे भिन्न नहीं है? जहाँ सत्य है वहाँ निश्चित रूपेण अहिंसा है और जहाँ सत्य नहीं है वहाँ अहिंसा भी नहीं है। सत्य अहिंसा के परिकर में ही प्रकट होता है और हिंसा असत्य के साथ चली आती है। तो हम नहीं कह सकते कि जहाँ अहिंसा है वहाँ सत्य है और जहाँ सत्य है वहाँ अहिंसा है? ये दोनों परस्पर इस प्रकार व्याप्त हैं कि इन्हें द्वैत की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

● जैन धर्म और सत्य

कोई भी वस्तु प्राचीन होती है इसलिए अच्छी नहीं होती और नई होती है इसलिये बुरी नहीं होती। जैन धर्म पुराना है इसलिए अच्छा है यह कोई तर्क नहीं है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बहुत पुराना है और इतना पुराना है कि इतिहास की वहाँ तक पहुँच ही नहीं है। भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्व इतिहास

की परिधि में आते हैं। भगवान् अरिष्टनेमि और उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर (भगवान् ऋषभ तक) इतिहास की परिधि से अस्पृष्ट हैं। संभव है आनेवाला युग उन्हें ऐतिहासिक-पुरुष प्रमाणित कर दे।

वही धर्म आत्मा का सहज गुण होता है जो सत्य का सीधा स्पर्श करे। जैन धर्म बाह्य विस्तार की दृष्टि से बहुत व्यापक नहीं है फिर भी वह महान् धर्म है और इसलिए है कि वह सत्य के अन्तस्तल का सीधा स्पर्श करता है।

● सत्य की मीमांसा

सत्य क्या है ? यह प्रश्न अनादिकाल से चर्चित रहा है। जो स्थिर है वह सत्य है पर वही सत्य नहीं है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। जो परिवर्तन है वह सत्य है पर वही सत्य नहीं है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नहीं। जो दृश्य है वह सत्य है पर वह भी सत्य है जो दृश्य नहीं है। सत्य के अनेक रूप हैं। एक रूप अनेकरूपता का अंश रहकर ही सत्य है। उससे निरपेक्ष होकर वह सत्य नहीं है। सत्य किसी धर्म-प्रवर्तक के द्वारा प्रज्ञा से ज्ञात और अनुप्राणित से उद्भावित होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सत्य वही है जो वीतराग के द्वारा प्रज्ञप्त है। सत्य एक और अविभाज्य है। जो सत् है जिसका अस्तित्व है वह सत्य है। यह परम अभेद दृष्टि है। इस जगत् में चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है स्वयं सत्य है फिर भी उसका चेतन से सीधा सम्पर्क नहीं है और इसलिये

नहीं है कि राग और द्वेष उसका सत्य से सीधा सम्पर्क होने में बाधा डाल रहे हैं। राग-रंजित मनुष्य आसक्ति की दृष्टि से देखता है इसलिए सत्य उसके सामने अनावृत नहीं होता। द्वेष-रंजित मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है इसलिए सत्य उससे भय खाता है। सत्य उसीके सामने अनावृत होता है जो तटस्थ दृष्टि से देखता है। तटस्थ दृष्टि से वही देख सकता है जिसके नेत्र आसक्ति और घृणा से रंजित नहीं होते।

● सत्य के दो रूप—अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

भगवान् महावीर वीतरागी थे। सत्य से उनका सीधा सम्पर्क था। उन्होंने जो कहा—वह सुना-सुनाया या पढ़ा-पढ़ाया नहीं कहा। उन्होंने जो कहा वह सत्य से सम्पर्क स्थापित कर कहा। इसलिए उनकी वाणी यथार्थ का रहस्योद्घाटन और आत्मानुभूति का ऋजु उद्बोधन है। जो सत्य है वह उपयोगी नहीं है पर उसके कुछ अंश निश्चित उपयोगी होते हैं। हम परिवर्तनशील संसार में रहनेवाले हैं। अतः कोरे अस्तित्ववादी ही नहीं किन्तु उपयोगितावादी भी हैं। हम सत्य को कोरा यथार्थवादी दृष्टिकोण ही नहीं मानते किन्तु यथार्थ की उपलब्धि को भी सत्य मानते हैं।

आत्मा है और प्रत्येक आत्मा परमात्मा है—यह दोनों अस्तित्ववादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण है। आत्मा की परमात्मा बनने की जो साधना है वह हमारा उपयोगितावाद है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से भगवान ने कहा—आत्मा भी सत्य है और अनात्मा भी सत्य है। उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भगवान ने कहा—आत्मा

ही सत्य है शेष सब मिथ्या है। पहला द्वैतवादी दृष्टिकोण है और दूसरा अद्वैतवादी। भगवान महावीर अखण्ड सत्य को अनन्त दृष्टिकोणों से देखने का संदेश देते थे। अनेकान्त दृष्टि से अद्वैत भी उनके लिए उतना ही ग्राह्य था जितना कि द्वैत और एकान्त दृष्टि से द्वैत भी उनके लिए उतना ही अग्राह्य था जितना कि अद्वैत। वे अद्वैत और द्वैत दोनों को एक ही सत्य के दो रूप मानते थे।

● अस्तित्ववादी दृष्टिकोण

यह विश्व अनादि और अनन्त है। इसमें जितना पहले था उतना ही आज है और जितना आज है उतना ही आगे होगा। उसमें एक भी परमाणु न घटता है और न बढ़ता है। कुछ घटता-बढ़ता सा लगता है वह सब परिवर्तन है। परिवर्तन की दृष्टि से यह विश्व सादि और सान्त है।

यह विश्व शाश्वत है। इसमें जो मूलभूत तत्त्व हैं वे सब अकृत हैं। सृष्टिकर्ता न कोई था न है और न होगा। सब पदार्थ अपने अपने भावों के कर्त्ता हैं। कुछ वस्तुएं जीव और पुद्गल के संयोग से कृत भी हैं। कृत्रिम वस्तुओं की दृष्टि से यह विश्व अशाश्वत भी है। मूलभूत तत्त्व की दृष्टि से विश्व शाश्वत है और तद्गत परिवर्तन की दृष्टि से वह अशाश्वत है।

यह विश्व अनेक है। इसमें चेतन भी है। चेतन व्यक्तिशः अनन्त है। अचेतन के पांच प्रकार हैं— धर्म अधर्म आकाश, काल और पुद्गल। प्रथम चार व्यक्तिशः एक है। पुद्गल व्यक्तिशः अनन्त है। अस्तित्व की दृष्टि से सब एक है इसलिए यह विश्व भी एक है।

● उपयोगितावादी दृष्टिकोण—आत्मा और परमात्मा

आत्मा है। वह अपने प्रयत्न से परमात्मा बन सकता है। यह उपयोगितावादी दृष्टिकोण है। भगवान ने कहा—बन्धन भी है और मुक्ति भी है। जिस प्रवृत्ति से आत्मा और परमात्मा की दूरी बढ़ती है वह बन्धन है और जिससे उसकी दूरी कम होती है अन्तर नहीं रहता वह मुक्ति है। मिथ्या दृष्टिकोण मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र—इनमें आत्मा बंधता है। सम्यग् दृष्टिकोण, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इनसे आत्मा मुक्त होता है—परमात्मा बनता है।

परमात्मा पूर्ण सत्य है। आत्मा अपूर्ण सत्य है। आत्मा का अन्तिम विकास परमात्मा है। जब तक आत्मा अपने अन्तिम विकास तक नहीं पहुँचता तब तक वह अपूर्ण रहता है। अन्तिम स्थिति तक पहुँचते ही वह पूर्ण हो जाता है। इसलिए यह सही है कि आत्मा अपूर्ण सत्य है पूर्ण सत्य है परमात्मा। आत्मा परमात्मा का बीज है और परमात्मा आत्मा का पूर्ण विकास। बीज और विकास ये दो भिन्न स्थितियाँ हैं किन्तु भिन्न तत्त्व नहीं। आत्मा और परमात्मा ये दोनों एक ही तत्त्व के दो भिन्न रूप हैं किन्तु आत्मा के उत्तर रूप से भिन्न किसी परमात्मा और परमात्मा के पूर्व रूप से भिन्न किसी आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। इसके मौलि एकत्व की दृष्टि से भगवान ने कहा—जो आत्मा है वही परमात्मा है और जो परमात्मा है वही आत्मा है। स्थिति-भेद की दृष्टि

भगवान ने कहा—चेतन का जो अविकसित या अपूर्ण रूप है वह आत्मा है और जो विकसित या पूर्ण है वह परमात्मा है। ये दोनों एक ही चेतन-व्यक्ति की दो भिन्न अवस्थाएँ हैं।

● अध्यात्म और धर्म

भगवान महावीर ने आत्मा और परमात्मा की वास्तविक एकता की स्थापना की उससे अनेक तथ्यों का प्रकाशन हुआ।

(१) आत्मा का स्वतन्त्र कर्तृत्व

(२) आत्मा का स्वतन्त्र भोक्तृत्व

अध्यात्मवाद और पुरुषार्थवाद इन्हीं के फल हैं और इन्हीं के आधार पर भगवान ने धर्म को बाहरी कर्मकाण्डों से उबारकर अध्यात्म बना दिया। उनकी भाषा में—आत्मा से परमात्मा बनने की जो प्रक्रिया है वही धर्म है। सम्प्रदाय वेष बाह्य कर्मकाण्ड आदि धर्म के उपकरण हो सकते हैं पर धर्म नहीं।

धर्म आत्मा की ही एक परमात्मोन्मुख अवस्था है। उसे शुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। भगवान ने कहा—धर्म शुद्ध आत्मा में स्थिर होता है। इसका अर्थ है आत्मा की जो शुद्धि है वही धर्म है। आत्मा और पुद्गल की मिश्रित अवस्था है वह अशुद्धि है। जो शुद्धि है, वही धर्म है।

● सम्प्रदाय और धर्म

भगवान् महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। साधना को सामुदायिक रूप दिया फिर भी वे सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न भिन्न

मानते थे। उन्होंने कहा—एक व्यक्ति सम्प्रदाय को छोड़ता है पर धर्म को नहीं छोड़ता। एक व्यक्ति धर्म छोड़ देता है पर सम्प्रदाय को नहीं छोड़ता। एक व्यक्ति दोनों को छोड़ देता है और एक व्यक्ति दोनों को नहीं छोड़ता। सम्प्रदाय धर्म की उपलब्धि में सहायक हो सकता है। इस दृष्टि से उन्होंने संघ-बद्धता को महत्व दिया। किन्तु धर्म को सम्प्रदाय से आवृत नहीं होने दिया। उन्होंने कहा—जो दार्शनिक लोग कहते हैं कि हमारे सम्प्रदाय में आओ तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं वे भटके हुए हैं और वे भी भटके हुए हैं जो अपने-अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा करते हैं। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत होकर—सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है। सम्प्रदाय एक साधन है जीवन यापन की परस्परता या सहयोग है। वह व्यक्ति को प्रेरित कर सकता है किन्तु वह स्वयं धर्म नहीं है। सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने वाले साधक के लिए सम्प्रदाय धर्म प्रेरक होता है, धर्म बाधक नहीं।

● व्यक्ति और समुदाय

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे—साधना के सामुदायिक रूप के महान् सूत्रधार थे। दूसरे पार्श्व में वे पूर्ण व्यक्तिवादी थे। उन्होंने कहा—आत्मा अकेला है। वह अपने आप में परिपूर्ण है। संज्ञा और वेदना भी उसकी अपनी होती है। समुदाय का अर्थ निमित्त—नैमित्तिक भाव है। सहयोग या परस्परावलम्बन से शक्ति उत्पन्न होती है। उसका अभिमत उपयोग ही समुदाय है। भगवान् ने

कहा—कोई एक व्यक्ति सबके लिए पाप-कर्म करता है उसका परि णाम उसी को भोगना पड़ता है। इसका अर्थ है कि पाप-कर्म करते समय व्यक्ति का दृष्टिकोण सदा व्यक्तिवादी ही होना चाहिए और भक्ति संपादन के लिए समुदायवादी दृष्टिकोण। समुदायवाद नास्तिकता भी है। यदि उसका उपयोग इस अर्थ में किया जाय कि मैं वही करूँगा जो सब लोग करते हैं। अच्छाई और बुराई का विचार किए बिना केवल 'सर्व' का अनुसरण करना नास्तिकता है अर्थात् अपनी आत्म-शून्यता है। व्यक्ति अपनी सत्ता के जगत् में पूर्णतः व्यक्ति है और निमित्त जगत् में पूर्णतः सामुदायिक है। कोई भी जीवित व्यक्ति केवल व्यक्ति या केवल सामुदायिक नहीं होता। अध्यात्म का अन्तिम बिन्दु यही होता है कि वहाँ पहुँच कर व्यक्ति निमित्त-जगत् से मुक्त हो जाता है कोरा व्यक्ति रह जाता है।

● स्वतंत्र सत्ता और अध्यात्म

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। उनकी भाषा में आत्मा परि पूर्ण है। उसका अस्तित्व पर निर्भर नहीं किन्तु स्वतंत्र है। इस स्वतंत्र सत्ता का बोध ही अध्यात्म है। मनुष्य जितने अर्थ में परि स्थिति का स्वीकार करता है उससे भरता है उतने ही अर्थ में वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व से खाली हो जाता है। यह खाली होने की स्थिति भौतिकता है। जो कोई आध्यात्मिक बनता है वह बाहर से कुछ लेकर नहीं बनता किन्तु बाहर से जो लिया हुआ है, उसे पुनः बाहर फेंककर बनता है। अपूर्णता जो है वह भीतर में नहीं है किन्तु बाहर का जो स्वीकार है वही अपूर्णता है। उसे अस्वीकार करके

ही मनुष्य देख सकता है कि वह परिपूर्ण है। भगवान् ने इसी अर्थ में कहा था कि आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता है और आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु। जो आत्मा को जानता है वह परिस्थिति से मुक्त होने का उपाय जानता है। जो आत्मा में रमण करता है वह परिस्थिति के चक्रव्यूह से मुक्त हो जाता है। अन्तर्दृष्टि से उसकी इन्द्रिय और मन निरपेक्ष स्थिति है वही अध्यात्म है। बहिर्जगत की दृष्टि से परिस्थिति से मुक्त होने की स्थिति है वह अध्यात्म है। आत्मा परिस्थिति या किसी बाहरी सत्ता पर निर्भर नहीं है। इसीलिए उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व है इसलिए उसका कर्तव्य भी स्वतंत्र है।

● स्वावलम्बन

साधना और आत्म-निर्भरता दोनों सम्बन्धित हैं। जितनी आसक्ति उतनी पर-निर्भरता। जितनी पर निर्भरता उतनी विफलता। साधना का मुख स्वतंत्रता की ओर है। भगवान् ने कहा—साधना गाँव में भी हो सकती है और अरण्य में भी। वह गाँव में भी नहीं हो सकती और अरण्य में भी नहीं। भगवान् बाहरी निमित्तों या स्थितियों की उपेक्षा नहीं करते थे किन्तु आत्मा की स्वतंत्र सत्ता के प्रतिपादक होने के कारण वे बाहरी निमित्तों को अतिरिक्त स्थान भी नहीं देते थे। साधु को सामुदायिक जीवन बिताने की छूट दी पर साथ-साथ यह भी कहा कि वह समुदाय में रहता हुआ भी अकेला रहे। अकेला अर्थात् शुद्ध। युक्त अर्थात् अशुद्ध। जो अकेला होता है वह शुद्ध होता है और जो शुद्ध होता है वह अकेला होता है।

संघ में रहकर भी अकेला रहने की स्थिति को भगवान् ने बहुत प्रशस्त बताया। यह साधना का बहुत ही प्रखर रूप है। इस स्थिति में अहिंसा की तेजस्विता प्रगट होती है।

स्थिति का जितना अधिक स्वीकार होता है उतनी ही सहायता अपेक्षित होती है। जैसे-जैसे स्थिति का स्वीकार कम होता चला जाता है वैसे-वैसे व्यक्ति सहायता-निरपेक्ष होता चला जाता है। एक दिन व्यक्ति अपने को सहायता से मुक्त कर देता है। एक व्यक्ति सहायता न मिलने पर असहाय होता है, यह परतन्त्रता की स्थिति है। एक व्यक्ति अपने को सहायता से मुक्त कर असहाय होता है यह पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति है। इसे भगवान् ने बहुत महत्त्व दिया। शिष्य ने पूछा—भगवन्! सहायता का त्याग करने से क्या होता है? उत्तर मिला—अकेलापन प्राप्त होता है। जिसे अकेलापन प्राप्त हो जाता है वह कलह, कषाय तू-तू मैं-मैं से मुक्त हो जाता है। उसे संयम संवर और समाधि प्राप्त होती है।

भगवान् महावीर का स्वावलम्बन निमित्तों की दृष्टि से उपकरण आहार और देह-त्याग तक तथा आन्तरिक स्थिति की दृष्टि से प्रवृत्ति और कषाय-त्याग तक पहुँचता है। भगवान् आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता के आधार से बोलते थे इसलिए उन्होंने यही कहा—जो व्यक्ति उपकरण आदि बाहरी और कषाय आदि भीतरी बंधनों से मुक्त होता है वही पूर्ण अर्थ में स्वावलम्बी होता है।

• गार्हस्थ्य और सन्यास

भगवान् महावीर सन्यास-धर्म के समर्थकों में प्रमुख थे। उनकी भाषा में सन्यास का अर्थ था अहिंसा। वह जीवन में हो तो गृहस्थ-वेश में भी कोई सन्यासी हो सकता है और यदि वह न हो तो साधु के वेश में भी कोई सन्यासी नहीं हो सकता। अहिंसा और सन्यास ये दोनों पर्यायवाची हैं। भगवान् से यह प्रश्न उपस्थित किया कि 'को गारमावसे' ? गृह में रहना कौन चाहेगा ? इसका अर्थ है हिंसा में रहना कौन चाहेगा ?

भगवान् ने कहा—कुछ भिक्षुओं से गृहस्थ अच्छे होते हैं। उनका संयम प्रधान होता है—अहिंसा विकसित होती है। जिसका संयम पूर्ण परिपक्व होता है, अहिंसा पूर्ण विकसित होती है वह भिक्षु सब गृहस्थों से श्रेष्ठ होता है। उनका सन्यास किसी वेशभूषा या बाहरी आवरण में बँधा हुआ नहीं था। वह उन्मुक्त था। इसलिए उन्होंने कहा—गृहस्थ के वेश में भी एक व्यक्ति परमात्मा बन सकता है जो अहिंसा के चरम विकास तक पहुँच जाता है। वेष और धर्म के विभिन्न सम्बन्ध को उन्होंने कभी मान्य नहीं किया। उनकी वाणी है—

एक व्यक्ति वेश को छोड़ देता है, धर्म को नहीं छोड़ता।
एक व्यक्ति वेश को नहीं छोड़ता धर्म को छोड़ देता है।
एक व्यक्ति दोनों को नहीं छोड़ता।
एक व्यक्ति दोनों को छोड़ देता है।

गृहस्थी का त्याग ममत्व-विसर्जन के लिए आवश्यक है और वेष-परिवर्तन का तात्पर्य है—पहचान या आवश्यकता।

अन्य धर्मों के प्रति

धर्म सत्य है और जो सत्य है वह एक है। वह देश-काल और व्यक्ति के भेद से विभक्त नहीं है। जो देश-काल और व्यक्ति से विभक्त है वह धर्म का उपकरण हो सकता है धर्म नहीं।

आत्मा और धर्म भिन्न नहीं हैं। जो आत्मा है वही धर्म है और जो धर्म है वही आत्मा है। धर्म आत्मा से भिन्न हो तो वह आत्मा को अनात्मा से मुक्त नहीं कर सकता। जो आत्मा को अनात्मा से भिन्न करता है वह धर्म है। वह सबके लिए समान है। फिर भी लोग कहते हैं यह मेरा धर्म और यह तुम्हारा धर्म। यहाँ धर्म का अर्थ संघ या सम्प्रदाय है आत्मा की विशुद्धि करने वाले गुण नहीं। भगवान् ने कहा—आत्मा की उपलब्धि न गाँव में होती है और न अरण्य में। आत्मा अपना प्रयत्न करे तो वह गाँव में भी हो सकती है और अरण्य में भी। मुक्ति धर्म से होती है। वह जैन बौद्ध आदि विशेषणों अमुक-अमुक वेषों आदि से नहीं होती। इस सत्य को भगवान् ने 'अन्यलिंगसिद्धा' शब्द के द्वारा व्यक्त किया। मुक्त होने के लिए आवश्यक नहीं कि वह जैन साधु के वेष में ही हो। वह किसी भी वेष या अवेष में मुक्त हो सकता है यदि साधु हो—मूर्छा या आसक्ति से मुक्त हो। सचाई यह है कि धर्म का प्रवाह किसी तट में बंधकर नहीं बहता। वह उन्मुक्त होकर बहता है—सबके लिए समान रूप से बहता है। इसलिए वह व्यापक है। उसका

परिणाम सब देशों और कालों में समान होता है इसलिए वह शाश्वत है। वह व्यापक और शाश्वत है इसीलिए वैज्ञानिक है। वह प्रयोगसिद्ध है। उसका परिणाम निश्चित और निरपवाद है। धर्म हो और मुक्ति न हो, धर्म हो और आत्मा पवित्र न हो यह कभी नहीं हो सकता। जिसने धर्म को देखा वह मुक्त हुआ जब देखा तब मुक्त हुआ, जहाँ देखा वहीं मुक्त हुआ। धर्म और मुक्ति में व्यक्ति, काल और देश का व्यवधान नहीं है। दीपक जलने मात्र से प्रकाशित होता है जब जलता है तभी प्रकाशित होता है और जहाँ जलता है वहीं प्रकाशित होता है।

● धर्म क्या और क्यों ?

भगवान् महावीर का धर्म आत्म-धर्म है। वह आत्मा के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। आत्मा जो है वह धर्म से सर्वथा भिन्न नहीं है और धर्म जो है वह आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है। धर्म आत्मा से बाहर नहीं है। इसलिए वह आत्मा से अभिन्न भी है और वह आत्मा के अनन्त गुणों में से एक गुण है। आत्मा गुणी है और धर्म गुण है। इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न भी है।

आत्मा जब केवल आत्मा हो जाती है—शरीर, वाणी और मन से मुक्त हो जाती है सारे विजातीय तत्त्वों-पुद्गल द्रव्यों से मुक्त हो जाती है तब उसके लिए न शुभ धर्म होता है और न अशुभ अधर्म। वह जब तक विजातीय तत्त्वों से आबद्ध रहती है तब तक उसके लिए धर्म और अधर्म की व्यवस्था होती है। जिन हेतुओं से विजातीय तत्त्वों का आकर्षण होता है वे अधर्म कहलाते हैं और

जिससे उसका निरोध या विनाश होता है, वे धर्म कहलाते हैं। भगवान् की भाषा में समता ही धर्म है और विषमता ही अधर्म है। राग और द्वेष यह विषमता है। न राग न द्वेष—यह समता तटस्थता या मध्यस्थता है। यही धर्म है। अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शान्ति, क्षमा सहिष्णुता अभय, ऋजुता नम्रता पवित्रता आत्मानुशासन संयम आदि-आदि जो गुण हैं वे उसी के क्रियात्मक रूप हैं। इन्हीं को व्यवहार की भाषा में व्यक्तित्व विकास के साधन और निश्चय की भाषा में आत्म विकास के साधन कहे जाते हैं।

सहज ही प्रश्न होता है धर्म किसलिए ? साधारणतया इसका समाधान दिया जाता है—परलोक सुधारने के लिए। धर्म परलोक सुधारने के लिए है—यह सच है किन्तु अधूरा। धर्म से वर्तमान जीवन भी सुधरना चाहिए। वह शांत और पवित्र होना चाहिए। अपवित्र आत्मा में धर्म कहाँ से ठहरेगा ? उसका आरम्भ पवित्र जीवन ही है। जिसे धर्म आराधना के द्वारा यहाँ शान्ति नहीं मिली उसे आगे कैसे मिलेगी ? जिसने धर्म को आराधा उसने दोनों लोक आराध लिए। वर्तमान जीवन में अंधेरा देखने वाले केवल भावी जीवन के लिए धर्म करते हैं वे भूले हुए हैं।

१—भगवान ने कहा—इहलोक के लिए धर्म मत करो। वर्तमान जीवन में मिलनेवाले पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के लिए धर्म मत करो।

२—परलोक के लिए धर्म मत करो। आगामी जीवन में मिलने वाले पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के लिए धर्म मत करो।

३—कीर्ति प्रतिष्ठा आदि के लिए धर्म मत करो।

४—केवल आत्म-शुद्धि या आत्मा की उपलब्धि के लिए धर्म करो।

● धर्म और अभय

भगवान ने कहा—धर्म पवित्र आत्मा में रहता है। प्रश्न होता है पवित्रता क्या है? उसका उत्तर है कि अभय ही पवित्रता है। यद्यपि पवित्रता का मौलिक रूप अहिंसा है फिर भी जहां भय होता है वहां अहिंसा नहीं हो सकती। इसलिए अभय ही पवित्रता है।

अभय अहिंसा का आदि बिन्दु है। भगवान के प्रवचन का मूल-मन्त्र है—डरो मत। जो डरता है वह अपने को अकेला अनुभव करता है, असहाय मानता है। भय उसी के पीछे पड़ता है जो डरता है। डरा हुआ मनुष्य दूसरों को भी डरा देता है। डरा हुआ मनुष्य तप और संयम को भी तिलांजलि दे देता है। डरा हुआ मनुष्य अपने दायित्व को नहीं निभाता—उठाए हुए भार को बीच में डाल देता है। डरा हुआ मनुष्य सत्पथ का अनुसरण करने में समर्थ नहीं होता इसलिए डरो मत!

न भयावनी परिस्थिति से डरो, न भयावने वातावरण से डरो। न व्याधि से डरो, न असाध्य रोग से डरो। न बुढ़ापे से डरो, न मौत से डरो। किसी से भी मत डरो। जिसका अन्तःकरण अभय से भावित होता है वही व्यक्ति सत्य की सम्पदा को पा सकता है।

● साम्ययोग

भगवान महावीर के समूचे धर्म का प्रतिनिधि शब्द है 'सामायिक'। सामायिक का अर्थ है समता की प्राप्ति। सब जीव समान हैं—इस धारणा से परत्व और ममत्व दोनों मिटते हैं और समत्व का विकास होता है। परत्व से द्वेष पनपता है और ममत्व से राग। इनसे

विषमता आती है। जब ये दोनों समत्व में लीन हो जाते हैं तब आत्मा सम बन जाती है।

भगवान् ने कहा—साम्ययोगी लाभ और अलाभ सुख और दुःख जीवन और मरण प्रशंसा और निन्दा मान और अपमान में सम रहे। ये सब औपाधिक स्थितियाँ हैं। ये आत्मा को विषम स्थिति में ले जाती हैं। सम स्थिति इनसे परे है।

भगवान ने कहा—आत्मा न हीन है और न अतिरिक्त। सब समान हैं। अध्यात्म जगत् के पहले सोपान में उत्कर्ष की भावनाएँ टूट जाती हैं। जो मुमुक्षु होकर भी किसी को अपने से अतिरिक्त और किसी दूसरे को अपने से हीन मानता है वह सही अर्थ में मुमुक्षु नहीं है। वह उसी व्यवहार-जगत् का प्राणी है जो जाति वर्ण आदि के आधार पर आत्मा को ऊँच-नीच माने बैठा है। भगवान जातिवाद का खण्डन करने नहीं चले। यज्ञ-हिंसा और दास-प्रथा का विरोध करना भी उनका कोई प्रमुख ध्येय नहीं था। उनका ध्येय था समता-धर्म की स्थापना। यह खण्डन और विरोध तो उसका प्रास‌ंगिक परिणाम था। जहाँ धर्म का आधार समता है, वहाँ जातिवाद हो नहीं सकता। जहाँ धर्म का आधार समता है वहाँ यज्ञ हिंसा और दास-प्रथा का विरोध स्वतः प्राप्त है। भगवान महावीर का सन्देश यदि इन्हीं के विरोध में होता तो वह सीमित होता और अस्थायी भी। किन्तु उनका सन्देश असीम है और स्थायी और वह इसलिए है कि उसका ध्येय आत्मा को सम स्थिति को प्राप्त करना है। भगवान् ने सत्य को अनेकान्त की दृष्टि से देखा और उसका प्रतिपादन

स्याद्वाद की भाषा में दिया। इसका हेतु भी सत्य की प्रतिष्ठा है। एकान्त दृष्टि से देखा गया वस्तु-सत्य नहीं होता। एकान्त की भाषा में कहा गया सत्य भी वास्तविक सत्य नहीं होता। सत्य अनन्त और अविभक्त है। प्रत्येक अस्तित्ववान् वस्तु सत् है। जो सत् है वह अनन्त-धर्मात्मक है। उसे अनन्त दृष्टिकोणों से देखने पर ही उसकी सत्ता का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिए भगवान् ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की।

● अनेकान्त दृष्टि

शब्द की शक्ति-सीमित है। वह एक साथ अनन्त धर्मात्मक सत् के एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकता है। शेष अनन्त धर्म अप्रतिपादित रहते हैं। एक धर्म के प्रतिपादन से एक धर्म का ही बोध होता है अनन्त धर्मों का नहीं। इस स्थिति में हम सापेक्ष पद्धति से ही उसका प्रतिपादन कर सकते हैं—वस्तु के अनन्त धर्मों से जुड़े हुए एक धर्म के माध्यम से उस समूची वस्तु का प्रतिपादन कर सकते हैं।

भगवान् ने अनेकान्त की दृष्टि से देखा तब स्याद्वाद की भाषा में कहा—प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। स्वरूप अविच्युति की दृष्टि से सब पदार्थ नित्य हैं और स्वगत परिवर्तनों की दृष्टि से सब पदार्थ अनित्य हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ से सर्वथा सदृश भी नहीं है और सर्वथा विसदृश भी नहीं। सब पदार्थ सदृश भी हैं और विसदृश भी हैं। प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। अपने अस्तित्व घटकों की दृष्टि से सब पदार्थ सत् हैं और

वह अस्तित्व रूप से भिन्न धर्मों से घटित नहीं है इसलिए सब पदार्थ असत् भी है। कोई भी पदार्थ सर्वथा वाच्य और सर्वथा अवाच्य नहीं है। एक क्षण में एक धर्म वाच्य भी है और समग्र धर्मों की दृष्टि से वह अवाच्य भी है।

जो जानता है कि पदार्थ नित्य भी है वह जीवन और मृत्यु में सम रहता है। जो जानता है कि पदार्थ अनित्य भी है वह संयोग-वियोग में सम रहता है।

जो जानता है कि पदार्थ सदृश भी है वह किसी के प्रति घृणा नहीं करता। जो जानता है कि पदार्थ विसदृश भी है वह किसी के प्रति आसक्त नहीं बनता।

जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है वह दूसरे की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार नहीं करता। जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ असत् भी है, वह किसी को परतंत्र करना नहीं चाहता।

जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ वाच्य भी है, वह सत्य को शब्द के द्वारा सर्वथा अग्राह्य नहीं मानता। जो जानता है कि पदार्थ अवाच्य भी है, वह किसी एक शब्द को पकड़कर आग्रही नहीं बनता।

इस प्रकार जो सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखता है, वही सही अर्थ में साम्ययोगी बन सकता है।

● निर्वाण

धर्म की चरम परिणति निर्वाण में होती है। निर्वाण का अर्थ है—शान्ति—"संति निव्वाणमाहियं"। निर्वाण से पहले आत्मा

शान्ति और अशान्ति के द्वन्द्व में रहता है। शान्ति का अर्थ है द्वन्द्व का पूर्ण अपेत समन। आत्मा अपनी अवस्था में चैतन्यमय है। वह न शान्त है और न अशान्त। अशान्ति की तुलना में उसे कहा जाता है, शान्ति। निर्वाण सिद्धि है। निर्वाण होने से पूर्व आत्मोपलब्धि साध्य होता है। आत्मा पूर्ण रूपेण उपलब्ध होते ही साध्य सिद्धि में परिणत हो जाता है इसलिए निर्वाण सिद्धि भी है। निर्वाण से पूर्व आत्मा पुद्गल-पुद्गल के बन्धन से बद्ध होता है। वह अपने मौलिक रूप में आते ही उस बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए निर्वाण मुक्ति भी है। आत्मा का पूर्णोदय है वह निर्वाण है और इसे प्राप्त करने का अधिकार उन सब को है जो इसे पाना चाहते हैं। यह उन्हें कभी प्राप्त नहीं होता जो इसे पाना नहीं चाहते।

● युद्ध और निःशस्त्रीकरण

भगवान महावीर अहिंसा के अजस्र स्रोत थे। हिंसा उनके लिये कहीं भी क्षम्य नहीं थी। उनकी दुनिया में शत्रुता युद्ध और अशान्ति जैसे तत्त्व थे ही नहीं। उन्होंने कहा—मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं हो सकता। जब कहा जा रहा था—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' तब भगवान ने कहा—युद्ध नारकीय जीवन का हेतु है। भगवान ने कहा—आत्मा से लड़। बाहरी लड़ाई से तुझे क्या ?

अध्यात्म जगत् की यही स्थिति है किन्तु सब के सब तो अध्यात्मलीन होते नहीं। ऐसे व्यक्ति अधिक हैं जो युद्ध आक्रमण और अधिकार-हरण में विश्वास करते हैं। आत्मा से लड़—यह

उपदेश उनके हृदय का स्पर्श तक नहीं करता। इस व्यवहार की भूमिका पर चलनेवाले लोगों को भगवान ने संदेश दिया—आक्रान्ता मत बनो। प्रत्याक्रमण भी अहिंसा नहीं है। वह स्थिति की विवशता ही है।

स्थिति से विवश होकर मनुष्य युद्ध करते हैं पर अन्ततः वह ध्वंसात्मक मार्ग है। ध्वंस का क्रम यह है कि एक के प्रतिकार में दूसरा ध्वंस निर्मित होता है। पहले से दूसरा तेज होता है। मनुष्य का श्रेय इसी में है कि वह शस्त्रपरिज्ञा-निःशस्त्रीकरण करे। शान्ति का मार्ग यही है। मानव-समाज यदि शान्ति चाहता है तो एक दिन यह करना ही होगा।

● आत्मोपलब्धि और वीर-वाणी

आगम भगवान् महावीर की वाणी का महान् संग्रह है किन्तु उसका अवगाहन करना हर व्यक्ति के लिए सरल नहीं है। अथाह जलराशि में कोई डुबकी नहीं ले सकता। सामान्य मनुष्य मोती बाजार में से ही खरीदता है। जन-साधारण के हित की दृष्टि से महावीर-वाणी के अनेक संकलन हुए हैं—पं० बेचरदासजी दोशी का 'महावीर वाणी', चौथमलजी महाराज का 'निर्ग्रन्थ प्रवचन', श्रीचन्दजी रामपुरिया का 'तीर्थंकर वर्धमान' आदि-आदि। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी शृंखला की एक कड़ी है।

महावीर की वाणी में अच्छाई है पर वह हमसे भिन्न रहकर हमारी अच्छाई नहीं बन सकती वह महावीर की अच्छाई है। हमारी अच्छाई वह अपना अस्तित्व गंवाकर ही बन सकती है—

इससे अभिन्न होकर या हमारा आचरण बनकर ही बन सकती है। महावीर ने इसी सत्य को अन्तिम सत्य माना था। उसका नवनीत यह है कि ज्ञान और और आस्था की दूरी मिटती है तो सत्य का दर्शन होता है, वाणी वरन आसन से नीचे उतर आती है। आस्था और आचरण की दूरी मिटती है तो सत्य की उपलब्धि होती है—वाणी उसमें विलीन हो जाती है, फिर उपदेश हमारे लिए दूसरे का वचन नहीं रहता किन्तु हमारा आत्म-धर्म हो जाता है। उपदेश कोरा उपदेश रहकर हमारा मंगल कर ही नहीं सकता। हमारा मंगल तभी होता है जब वह हमारा धर्म बन जाता है।

आचार्य श्री तुलसी—जो मेरे आचार्य ही नहीं, मेरे विद्यागुरु और जीवननिर्माता भी हैं—से मुझे यही मन्त्र मिला था कि सत्य तुमसे अभिन्न होकर ही तुम्हारा मंगल कर सकता है। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ हूँ। मैं जिज्ञासु पाठकों को भी यही परामर्श दूँगा कि वे तट पर खड़े-खड़े सत्य के अजस्र स्रोत को केवल देखें ही नहीं किन्तु उसमें अभिन्नता स्थापित कर स्वयं सत्य रूप बन जायं।

[illegible] व वीरजभाई ने जो प्रयत्न किया है, सत्य के महान् उद्बोधक वचनों का जो संग्रह किया है, वह स्वयं में पूर्ण है। विश्वास है कि इससे अगणित व्यक्तियों को अपनी पूर्णता खोजने का अवसर मिलेगा।

राजसमन्द, १ जनवरी १९६१ —मुनि नथमल

भगवान् महावीर

[जीवन-रेखा]

● जन्म और जन्म-स्थान

भगवान महावीर का जन्म विक्रम संवत् से ५४२ वर्ष पूर्व (ईसवी सन् ५९९ वर्ष पूर्व) भारत के पूर्वी भाग में स्थित विदेह जनपद के अन्तर्गत कुण्डग्राम में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्री में हुआ था।

भगवान् महावीर विदेह जनपद में अवतरित हुए थे इसका प्रमाण कल्पसूत्र में आये हुए 'विदेहे' 'विदेहजच्चे' तथा 'विदेहसुकुमाले' इन विशेषणों द्वारा हमें उपलब्ध होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के सम्मानित हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों में विदेह जनपद का स्पष्ट निर्देश किया हुआ है।

---

* उस समय विदेह जनपद की सीमा उत्तर में नगाधिराज हिमालय की तलहटी (नेपाल की भूमि) तक, दक्षिण में गङ्गा नदी के किनारे तक, पश्चिम में कोसल, कुशीनारा तथा काशी के राज्यों तक और पूर्व में चम्पारण्य-प्रदेश तक फैली हुई थी। यह प्रदेश छोटी-मोटी शैलों और छोटे-बड़े जलाशयों से अत्यन्त सौन्दर्यशाली था। साथ ही प्राचीन काल में उत्पन्न अनेक तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के कारण तत्त्वज्ञों की भूमि के रूप में प्रख्यात था।

इन सब का दैनिक व्यवहार वैशाली और कुण्डग्राम के साथ प्रचुर मात्रा में था।

● माता पिता आदि

भगवान् महावीर का जन्म एक सुसंस्कृत धार्मिक राज-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। ये तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के श्रावक-श्राविका थे।

सिद्धार्थ ज्ञातवंशीय क्षत्रिय थे इनका गोत्र काश्यप था और बहु शूर-वीरता उदारता आदि गुणों के कारण बहुत ही लोकप्रिय बन गया था। जनता उन्हें 'श्रेयांस' अथवा 'यशस्वी' भी कहती थी। वे अपने गण-समुदाय पर स्वामित्व रखनेवाले राजा थे।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वज्जी गणतंत्रात्मक-राज्य में अनेक छोटे-बड़े राजा जुड़े हुए थे। बौद्धग्रन्थ, 'जातक अट्ठकथा' के अनुसार उन राजाओं की संख्या ७७०७ थी। परन्तु इतनी बड़ी संख्यावाले नृपति एक साथ मिलकर देश का कार्यभार संचालन नहीं कर सकते इसलिये उनमें से मुख्य व्यक्तियों का कार्य भार के लिये विशेष रूप से चयन कर लिया गया था। वे समय-समय पर वैशाली के सभागार नामक राजभवन में एकत्र होकर राज-क्षेम एवं सामाजिक कार्य-प्रणालियों के सम्बन्ध में चर्चा-विचारणा करते थे तथा अन्त में आवश्यक निर्णय लिये जाते थे। इन निर्णयों के

अनुसार ही विदेह का शासन चलता था। संथागार में किये गये निर्णयों का व्यवस्थित रूप से पालन हो, एतदर्थ देखरेख करने तथा अन्य आवश्यक कार्यकलाप की व्यवस्था करने के लिये उपयुक्त राजाओं में से आठ व्यक्तियों की एक समिति निर्मित थी और उनमें शुद्ध धर्मवंशी के रूप में सम्मानित कुलीन राजाओं को प्रतिनिधित्व दिया गया था।

ज्ञातृवंश इक्ष्वाकु वंश की एक शाखा के रूप में था। अतः उसकी गणना शुद्ध धर्मकुल में की जाती थी। सिद्धार्थ राजा उनके प्रतिनिधि के रूप में वज्जियों के संघ में सब से ऊँची समिति में विराजमान थे। यही कारण था कि विदेह के क्षत्रिय समाज में उनकी प्रतिष्ठा बहुत ही शिखर बनी हुई थी।

उस समय वज्जियों की गणसत्ता का अधिनायक चेटकराज था। वह वासिष्ठगोत्र का लिच्छवि क्षत्रिय था और अपने पराक्रम तथा कुलाभिमान से सिद्ध था। उसने अपनी विचारप्रिय एवं धर्मनिष्ठ भगिनी त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ राजा के साथ किया था। इस

---

* प्रज्ञापना और स्थानांगसूत्र में—उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात और कौरव इन छ वंशों की गणना शुद्ध आर्यवंशों में की गयी है। मिलिन्दप्रश्न में इनके नाम इस रूप में गिनाये हैं :— (१) विदेह, ( ) लिच्छवि, (३) ज्ञातिक, (४) वज्जी (५) उग्र, (६) भोग, ( ) इक्ष्वाकु, (८) कौरव।

'भीकल्पसूत्र' की कालिका में, 'आवश्यकचूर्णि' में तथा 'कल्पसूत्र' की 'सन्देहविषौषधि' वृत्ति में यह व्याख्या की गई है।

प्रकार दो महान् क्षत्रिय कुलों का संमिश्रण हुआ था और वह विदेह के इतिहास में अमर गाथा प्रस्तुत करने में सफल रहा।

भगवान् महावीर के नन्दिवर्धन नामक एक बड़े भाई थे और सुदर्शना नामवाली एक बड़ी बहन थी। ये अपने माता-पिता की तृतीय एवं अन्तिम सन्तान थे।

● नाम-करण

भगवान् महावीर का मूल नाम वर्धमान था। ये माता के गर्भ में आये तभी से सिद्धार्थ राजा के ऐश्वर्य तथा स्नेह-सत्कार आदि में क्रमशः वृद्धि हुई। यही कारण था कि इनका ऐसा गुणनिष्पन्न नाम रखा गया। इन्होंने श्रमिण जीवन में योगसाधना के अवसर पर परीषह आदि के जीतने में पर्याप्त वीरता दिखलाई, जिससे जनता में इनकी 'महावीर' के रूप में प्रसिद्धि हुई। धीरे-धीरे यही नाम लोक-जिह्वा पर आरूढ़ होकर स्थिर बन गया।

ये ज्ञातवंश में आविर्भूत हुए थे अतः 'ज्ञातपुत्र' (ज्ञायपुत्त अथवा णायपुत्त) कहलाते थे तथा काश्यप गोत्र में होने से 'काश्यप' नाम से भी प्रसिद्ध थे। इसी प्रकार वैशाली के विशेष सम्पर्क में रहने से 'वैशालिक' भी कहे जाते थे। श्रमणकुल में श्रेष्ठ होने के कारण कुछ लोग 'श्रमण भगवान् महावीर' इस रूप में भी सम्बोधित करते थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य के अनुसार इनका एक नाम 'सन्मति' भी था।

● बाल एवं कुमार-जीवन

भगवान् महावीर का बाल एवं कुमार-जीवन वैभव से परिपूर्ण राजप्रासाद में व्यतीत हुआ था।

कल्पसूत्र में इनके लिए—'दक्खे' इत्यादि पाँचवें आगीमें भूए तथा विशेषए—इन पाँच विशेषणों का उपयोग हुआ है। इन विशेषणों के द्वारा इनके स्वभावादि के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश प्राप्त होता है।

ये 'दक्ष' थे अर्थात् सर्व कलाओं में कुशल थे। ये 'दक्ष-प्रतिज्ञ' थे अर्थात् की गई प्रतिज्ञा का पालन पूर्णरूपेण करते थे। 'प्रतिरूप' थे अर्थात् आदर्श रूपवान् थे। 'आलीन' थे अर्थात् कछुए के समान अंगोपांग से गुप्त थे। 'भद्रक' थे अर्थात् शुभ लक्षणों से विभूषित थे। और 'विनीत' थे अर्थात् माता, पिता एवं गुरुजनों के प्रति विनय-वाले थे।

ये बाल्यकाल से ही बड़े निर्भीक थे। एक बार ये अपने समवयस्क मित्रों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय किसी वृक्ष की जड़ से एक भयंकर सर्प निकला। उसे देखकर सभी कुमार भयभीत होकर भाग गये किन्तु ये अपने स्थान से तनिक भी विचलित नहीं हुए। इतना ही नहीं अपितु ये सर्प के निकट गये और उसे धीरे से उठाकर दूर रख दिया। अनन्तर सभी कुमार वापस लौट आये और उन्होंने पूर्ववत् खेल आरम्भ किया।

इनका शरीर अनुपम कान्ति से युक्त और अत्यन्त सुन्दर था।

तीर्थङ्कर की आत्माएँ अनादिकाल से संसार में परोपकारी स्वभाववाली, स्वार्थ को प्रधान न माननेवाली, सर्वत्र समुचित क्रिया का आचरण करनेवाली, दीनतारहित, सफल कार्यों को ही करनेवाली

अपकारी जनों के प्रति भी अत्यन्त कोप न करनेवाली कृतज्ञतागुण की स्वामिनी दुष्ट वृत्तियों द्वारा अकम्पनीय चित्तवाली देव तथा गुरु का बहुमान करनेवाली और गम्भीर आशय से परिपूर्ण होती है। उनका सहज तथाभव्यत्व तदनुरूप सामग्री के संयोग से जैसे जैसे परिपक्व होता रहता है वैसे ही उनकी उत्तमता बाहर प्रकट होती रहती है।* इस प्रकार भगवान् महावीर में ये सभी गुण उत्कृष्ट रूप में विकसित हुए थे ऐसा मानें तो कोई अनुचित न होगा।

● शिल्पशाला में

उस समय विदेह में क्षत्रिय-कुमारों को शिक्षण देने के लिए विशिष्ट शिल्पशालाएं थीं।× उनमें क्षत्रिय कुमारों को अक्षरज्ञान व्यवहारोपयोगी गणित तथा अनेक प्रकार की कलाएं सिखाई जाती थीं और युद्धविद्या के सिद्धान्त तथा प्रयोगों का ज्ञान एवं धनुर्विद्या की उच्चकोटि की शिक्षा भी दी जाती थी। फलतः क्षत्रियकुमार युद्ध में अति निपुण होते थे और शब्दवेधी तथा बाणवेधी बनते थे अर्थात् क्षण मात्र में किसी भी वस्तु का वेध कर सकते थे और कैसी जैसी सूक्ष्म वस्तु पर भी लक्ष्यसन्धान करने में सफलता पाते थे।

क्षत्रियों की अधिक बस्ती होने के कारण क्षत्रियकुण्ड में ऐसी एक शिल्पशाला थी और वह वहाँ के क्षत्रियकुमारों को उपयुक्त सभी प्रकारों की शिक्षा देती थी। भगवान् महावीर को आठ वर्ष की आयु में इस शिल्पशाला में प्रविष्ट किया गया किन्तु वहाँ उनका मन

---

* श्रीहरिभद्रसूरि कृत 'ललितविस्तरा' [illegible]।

[illegible] की अनुवृत्ति।

नहीं लगा। जिसका मन आध्यात्मिक प्रवृत्ति में लगा हो, अहिंसा वृत्ति से परिपूर्ण हो उसे मुष्टिविद्या अथवा धनुर्विद्या जैसी हिंसक विद्या में रस कहाँ से प्राप्त हो? शिल्पशाला के आचार्य ने उनके मन में इस प्रकार की अभिरुचि जगाने का पूर्ण प्रयत्न किया तब उनमें परस्पर जो वार्तालाप हुआ, वह बहुत ही सूचक था। आखिर शिल्पशाला के आचार्य ने सिद्धार्थ राजा को बतलाया कि राजकुमार बुद्धि-प्रतिभापूर्ण है किन्तु इन्हें यहाँ दी जानेवाली शिक्षा के प्रति तनिक भी अभिरुचि नहीं है। अतः इन्हें राजमहल में ही रखें और यथेच्छ प्रवृत्ति करने दें। सिद्धार्थ राजा ने शिल्पशाला के आचार्य की सम्मति के अनुसार कार्य किया और तब से वर्धमान कुमार राजमहल में यथेच्छ विहार करने लगे।

● वैवाहिक जीवन

भगवान् महावीर ने युवावस्था में प्रवेश किया तब उनके अन्तर में जन्मसिद्ध वैराग्य की गहरी अनुभूति हो रही थी, इसी से उनकी अभिरुचि विवाहित होने की नहीं थी, किन्तु माता के आग्रहवश उन्होंने समरवीर नामक एक महा सामन्त की पुत्री यशोदा के साथ विवाह किया। कालक्रम से उन्हें एक पुत्रीरत्न की प्राप्ति हुई और उसका नाम 'प्रियदर्शना' रखा गया।

पुत्री प्रियदर्शना का विवाह, बड़ी होने पर, क्षत्रीनगर में 'जमाली' नामक क्षत्रियकुमार के साथ हुआ जो कि भगवान की बहन सुदर्शना का पुत्र था।

उस समय कुछ क्षत्रियकुल मामा की पुत्री को गम्य मानकर उसके साथ विवाह करते थे। ज्ञातकुल भी उनमें से एक था। भगवान के ज्येष्ठ भ्राता श्री नन्दिवर्धन ने भी अपने मामा चेटक की पुत्री 'ज्येष्ठा' के साथ विवाह किया था।

प्रियदर्शना को जन्म देने के कुछ समय पश्चात् यशोदादेवी का स्वर्गवास हुआ अथवा दीर्घकाल तक जीवित रही यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि आगे उनके सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर ने अखण्ड कौमारव्रत का पालन किया था। विवाह करने के लिये सम्बन्धी जनों का बहुत आग्रह होने पर भी उन्होंने विवाह करना कथमपि स्वीकार नहीं किया था।

● संसार का त्याग

भोगमार्ग त्याग कर योगमार्ग ग्रहण करने की तथा उसके निमित्त संसार-त्याग करने की भावना तो भगवान् महावीर के दिल में दीर्घ काल से हो थी किन्तु इस ओर कदम रखने से माता पिता के वात्सल्यपूर्ण कोमल हृदय को गहरी चोट पहुँचेगी, ऐसा समझकर वे मौन बैठे थे।

उनकी इस चिर-अभिलषित आकांक्षा को मूर्त रूप देने का अवसर अट्ठाइस वर्ष की आयु में उपस्थित हुआ जबकि उनके माता पिता दोनों ही स्वर्ग सिधार गये। किन्तु इस सम्बन्ध में स्वजनों

रहना, (३) जहाँ तक हो मौन रहना (४) भोजन किसी पात्र की अपेक्षा हाथ में ही करना और (५) गृहस्थ से अनुनय विनय नहीं करना।

भगवान् दृढ़प्रतिज्ञ थे अतः उन्होंने इन नियमों का पूर्णतया पालन किया।

योग तो अभ्यास से ही सिद्ध होता है। यह मानकर वे योगाभ्यास में दत्तचित्त रहते थे और क्रमशः उसकी प्रक्रियाएँ सिद्ध करते थे। भगवान् की यह धारणा थी कि आसनसिद्धि के बिना ध्यानयोग में स्थिरता होना कठिन है। तथा शीत, आतप, वायु, क्षुधा एवं अनेकविध जन्तुओं के द्वारा उत्पन्न उपद्रव की परिस्थिति में निश्चिन्त रहने के लिये भी आसनसिद्धि की पूर्ण उपादेयता है इस कारण भगवान् ने सर्वप्रथम लक्ष्य आसन सिद्धि की ओर दिया था तथा कुछ आसन भी सिद्ध कर लिये थे। इस सम्बन्ध में 'आचारांग सूत्र' में लिखा है कि "भगवान् कुक्कुचा से रहित अवस्था में रहकर अनेक प्रकार के आसनों में स्थिर होकर ध्यान करते थे और समाधिस्थ तथा आकांक्षा-विहीन हो ऊर्ध्व अधः एवं तिर्यक् लोक का विचार करते थे।'

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' के तीसवें अध्ययन में कहा है—'वीरासन आदि आसन जीव के द्वारा सुख-पूर्वक किये जा सकें ऐसे हैं। और वे जब उग्र रूप में धारण किये जावें तो कायक्लेश नाम का तप माना जाता है।'*

---

* ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति, कायकिलेसं तमाहियं ॥२७॥

इससे विदित होता है कि भगवान् श्रीराम पद्मासन उत्कटिकासन गोदोहिकासन प्रभृति सरल आसनों को अधिक प्रिय मानते थे और उनमें दीर्घकाल तक स्थिर रहते थे।

भगवान् अनेक बार कायोत्सर्गासन में भी रहते थे। उस समय दोनों पाँव सीधे खड़े रख कर, आगे के भाग में चार अंगुल जितना और पीछे के भाग में कुछ थोड़ा अन्तर रखते थे तथा अपने दोनों हाथों को दण्डवत् के समान सीधे लटकते हुए रखते थे।

निर्ग्रन्थ मुनिगण भगवान के पदचिह्नों पर चलते हुए भिन्न भिन्न आसनों को सिद्ध करते थे इसका प्रमाण बौद्धग्रन्थों में भी मिलता है।

भगवान् श्वास निरोधरूप प्राणायाम की क्रिया को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। वे ऐसा मानते थे कि प्राणवायु के निग्रह से कष्टदेता-प्राप्त मन शीघ्र स्वस्थ नहीं होता। किन्तु वे भाव-प्राणायाम को अवश्य महत्त्व देते थे जिसमें बहिरात्मभाव का रेचक अन्तरात्मभाव का पूरक एवं स्थिरता रूप कुम्भक, ये तीन प्रक्रियाएं मुख्य थी।

पाँचों इन्द्रियों के विषय से मन को खींच लेना और अपनी इच्छा हो वहाँ स्थापित करना प्रत्याहार की क्रिया कहलाती है। साधारण मनुष्य के लिये यह क्रिया अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसका मन कामनाओं पर मक्खी के चिपट जाने की तरह इन्द्रियोंके विषयमें स्थि

---

* श्री हरिभद्रसूरिजी ने 'योगदृष्टि-समुच्चय' की चौथी दृष्टि में भाव-प्राणायाम का वर्णन किया है।

की अनुमति लेते समय वातावरण हृदयद्रावक बन गया। नन्दिवर्धन गद्गद् होकर कहने लगे कि—'माता-पिता का दारुण वियोग तो अभी ताजा ही है ऐसी स्थिति में तुम हमें छोड़कर जाने की बात क्यों करते हो ? तुम्हारे वियोग का दुःख हमसे किंचित् भी सहन नहीं हो सकेगा। कम से कम दो वर्ष तो हमारे साथ रहो फिर तुम्हें जैसा योग्य प्रतीत हो वैसा करना।'

भगवान् का हृदय इस समय वैराग्य से परिपूर्ण होने पर भी उन्होंने बड़ों का सम्मान रखा और दो वर्ष रुकने का निर्णय लिया किन्तु अपना जीवन तो उसी दिन से एक त्यागी के अनुरूप बना लिया।

बारह मास के अनन्तर उन्होंने अपना सारा परिग्रह न्यून करना आरम्भ किया तथा दीन-दुखियों को एवं आवश्यकता वाले व्यक्तियों को अपने हाथों से सभी वस्तुएं बांट दी और कुटुम्बियों को देने योग्य जो वस्तुएं थी वे उन्हें वितरित कर दी।

तीस वर्ष की अवस्था में भगवान् ने संसार का त्याग किया और योगमार्ग ग्रहण किया। यह दिन मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी का था।०

---

* कल्पसूत्र में "दाणं दायारेहिं परिभाइत्ता दाणं दायाणं परिभाइत्ता" इन शब्दों के द्वारा ये बात कही गयी है।

० गुजराती तिथि के अनुसार इसे कार्तिक वदी १० का दिन माना जाता है।

● योग-साधना

बिना योग-मार्ग के आत्मशुद्धि आत्मा का साक्षात्कार, मुक्ति अथवा निर्वाण नहीं होता—ऐसा मानकर भगवान् महावीर ने योग-मार्ग ग्रहण किया था।

भोग और ऐश्वर्य का परित्याग किये बिना योग-दीक्षा सम्भव नहीं अतः भगवान् ने सभी प्रकार की भोग-लालसाएँ छोड़ दी थी और सारे ऐश्वर्य का त्याग करके एक निर्ग्रन्थ अर्थात् श्रमण की वृत्ति ग्रहण कर ली थी।

जब तक पापकारिणी प्रवृत्तियो पर पूर्णरूप से प्रतिबन्ध नहीं रखा जाय तब तक आत्मा पवित्र शुद्ध, स्वच्छ बन नहीं सकती इस-लिये योग-दीक्षा ग्रहण करते समय सर्वविध पापकारिणी प्रवृत्तियों (सावद्ययोग) का मन वचन और काया से परित्याग किया था।

योग की साधना यम-पूर्वक ही सिद्ध होती है अतएव उन्होंने योगसाधना के प्रारम्भ मे ही अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम (महाव्रत) धारण किये थे और अप्रमत्तभाव से इनका पालन करते थे।

यमों के साथ कुछ नियमों की भी आवश्यकता रहती है। यही कारण था कि भगवान् ने रात्रि भोजन-त्याग आदि कुछ नियम स्वीकृत किये थे और आवश्यकता अनुसार उनमें परिवर्तन भी किया था। उदाहरण के रूप मे किसी तपस्वी के आश्रम मे कुछ कटु अनुभव होने पर उन्होंने निम्नलिखित पाँच नियम धारण कर लिये थे :—
(१) अप्रीति हो ऐसे स्थान में नहीं रहना, (२) यथासम्भव ध्यान में

रहना (३) जहाँ तक हो मौन रहना, (४) भोजन किसी पात्र की अपेक्षा हाथ से ही करना और (५) गृहस्थ से अनुनय विनय नहीं करना।

भगवान् दृढ़प्रतिज्ञ थे अतः उन्होंने इन नियमों का पूर्णतया पालन किया।

योग तो अभ्यास से ही सिद्ध होता है। यह जानकर वे योगाभ्यास में दत्तचित्त रहते थे और क्रमशः उसकी प्रक्रियाएँ सिद्ध करते थे। भगवान् की यह धारणा थी कि आसनसिद्धि के बिना काययोग में स्थिरता होना कठिन है। तथा शीत आतप वायु, क्षुधा एवं अनेकविध जन्तुओं के द्वारा उत्पन्न उपद्रव की परिस्थिति में निश्चिन्त रहने के लिये भी आसनसिद्धि की पूर्ण उपादेयता है इस कारण भगवान् ने सर्वप्रथम लक्ष्य आसन सिद्धि की ओर दिया था तथा कुछ आसन भी सिद्ध कर लिये थे। इस सम्बन्ध में 'आचारांग सूत्र' में लिखा है कि भगवान् चञ्चलता से रहित अवस्था में रहकर अनेक प्रकार के आसनों से स्थिर होकर ध्यान करते थे और समाधिस्थ तथा आकांक्षा-विहीन हो ऊर्ध्व, मध्य एवं तिर्यक् लोक का विचार करते थे।'

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' के तीसवें अध्ययन में कहा है—'वीरासन आदि आसन जीव के द्वारा सुख-पूर्वक किये जा सकें ऐसे हैं। और जो उग्र रूप से धारण किये जायें तो कायक्लेश नाम का तप माना जाता है।'*

---

* ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति, कायकिलेसं तमाहियं॥

इससे विदित होता है कि भगवान् वीरासन पद्मासन उत्कटिकासन गोदोहिकासन प्रभृति सरल आसनों को अधिक प्रिय मानते थे और उनमें दीर्घकाल तक स्थिर रहते थे।

भगवान् अनेक बार कायोत्सर्गासन में भी रहते थे। उस समय दोनों पाँव सीधे खड़े रख कर, आगे के भाग में चार अंगुल जितना और पीछे के भाग में कुछ थोड़ा अन्तर रखने में तथा अपने दोनों हाथों को प्रलम्बन के समान सीधे लटकते हुए रखते थे।

निर्ग्रन्थ मुनिगण भगवान के पदचिह्नों पर चलते हुए भिन्न भिन्न आसनों को सिद्ध करते थे इसका प्रमाण बौद्धग्रन्थों में भी मिलता है।

भगवान् श्वास निरोधरूप प्राणायाम की क्रिया को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। वे ऐसा मानते थे कि प्राणवायु के निग्रह से शरीर-प्राण मन योग्य स्वस्थ नहीं होता। किन्तु वे भाव-प्राणायाम को अवश्य महत्त्व देते थे जिसमें बहिरात्मभाव का रेचक अन्तरात्मभाव का पूरक एवं स्थिरता रूप कुम्भक, ये तीन प्रक्रियाएं मुख्य थी।

पाँचों इन्द्रियों के विषय से मन को खींच लेना और अपनी इच्छा हो वहाँ स्थापित करना प्रत्याहार की क्रिया कहलाती है। साधारण मनुष्य के लिये यह क्रिया अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसका मन श्लेष्म पर मक्खी के चिपट जाने की तरह इन्द्रियोंके विषयमें लिप्त

---

* श्री हरिभद्रसूरिजी ने 'योगदृष्टि-समुच्चय' की चौथी दृष्टि में उक्त भाव-प्राणायाम का वर्णन किया है।

रहता है तथा उसमें किसी भी प्रकार पृथक नहीं होता। परन्तु भगवान का मन संवृत था और उन्हें पुद्गलों की संगति तनिक भी प्रिय नहीं थी। अतएव उक्त क्रिया शीघ्रता से सिद्ध हो गयी। 'आचारांगसूत्र' में कहा है—वे भगवान् कषाय-रहित लोभ-रहित, शब्द और रूप में मूर्च्छारहित तथा साधक-दशा में पराक्रम करते हुए स्वल्पमात्र भी प्रमाद नहीं करते थे। वे स्वानुभूतिपूर्वक संसार के स्वरूप को समझकर आत्मशुद्धि के कार्य में सावधान रहते थे।'

भगवान् ने इतना ध्यानाभ्यास कर लेने के पश्चात् धारणा सिद्ध करने का प्रयास किया था और तदर्थ भद्रा, महाभद्रा एवं सर्वतोभद्रा नामक प्रतिमाएं अङ्गीकृत की थी। भद्रप्रतिमा की विधि इस प्रकार है कि—दो दिन का निराहार उपवास ग्रहण करके प्रातःकाल में पूर्वाभिमुख होकर किसी एक पदार्थ पर ही दृष्टि केन्द्रित करना। तदनन्तर रात्रि होने पर दक्षिण दिशा की ओर मुँह करके उपर्युक्त रीति से ही किसी अन्य पदार्थ पर दृष्टि स्थिर करना। दूसरे दिन प्रातःकाल होने पर पश्चिम दिशा की ओर तथा साय होने पर उत्तर दिशा की ओर मुँह रखकर ऊपर कहे अनुसार किसी भी वस्तु पर दृष्टि केन्द्रित करना। तात्पर्य यह है कि इसमें लगातार बारह घण्टे तक एक पदार्थ पर धारणा की जाती है तथा यह प्रयोग अड़तालीस घण्टों तक चालू रखना होता है। हम एक वस्तु पर अधिक से अधिक कितने समय तक दृष्टि स्थिर रख सकते हैं इसका विचार करें तो इस धारणा का महत्त्व समझ में आ

सकता है। भगवान् ने यह प्रयोग लगभग दस वर्ष के योगाभ्यास के अनन्तर श्रावस्ती नगरी की एक ओर बसे हुए 'सानुयष्टिक' नामवाले ग्राम में किया था* और इसमें सफलता प्राप्त की थी।

महाभद्र-प्रतिमा में एक दिशा की ओर चौबीस घण्टे तक रहना पड़ता है तथा उतने ही समय तक किसी भी एक पदार्थ पर दृष्टि स्थिर की जाती है। छियानवे घण्टे के निराहार उपवासपूर्वक यह प्रतिमा पूर्ण होती है। भगवान् इस क्रिया में भी सफल सिद्ध हुए।

सर्वतोभद्र-प्रतिमा की विधि तो अत्यन्त ही कठिन है। इसमें चार दिशाएं, चार विदिशाएँ, ऊर्ध्वदिशा एवं अधोदिशा—इस प्रकार कुल दस दिशाओं में एक-एक अहोरात्र तक दृष्टि स्थिर रखनी पड़ती है और दसों दिन तक निराहार उपवास किये जाते हैं। भगवान् ने इसमें भी विजय प्राप्त की थी।

अप्रमत्त-भाव से रहना यह उनका मुख्य सिद्धान्त था अतः वे प्रमाद नहीं आ जावे इस सम्बन्ध में बड़ी सावधानी रखते थे। निद्रा को भी वे योग-साधना में बाधक मानते थे इसलिये निद्रा-सेवन नहीं करते थे। आचारांगसूत्र में कहा है—'भगवान् किसी किसी समय उत्कट आसनादि में स्थिर रहते किन्तु निद्रा की इच्छा से नहीं। कदाचित् निद्रा आने जैसा लगता तो संसारवर्धक प्रमाद मानकर उठ जाते और उसे दूर कर देते। आवश्यकतानुसार परिमाल

---

* श्री हेमचन्द्राचार्य ने 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित' में यह नाम दिया है।

को रात्रि मे बाहर जाकर मुहूर्त तक भी ध्यान करते।' निद्रा को दूर रखने के लिये उनका यह मुख्य प्रयोग था।

भगवान् अपने मन को निष्क्रिय नहीं रखते थे। कभी उसे अनुप्रेक्षा अर्थात् तत्त्वचिन्तन में लगाते अथवा कभी उसे धर्मध्यान में संलग्न करते। भावना सिद्ध हो जाने से उनके धर्मध्यान में बहुत ही स्थिरता एवं उज्ज्वलता आ गई थी। फिर तो वे आत्मा के शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यान धारण करने मे पूर्णरूपेण सफल हो गये थे।

शुक्लध्यान की द्वितीय भूमिका मे श्रुतज्ञान का आलम्बन प्राप्त करते हुए द्रव्य के एक ही पर्याय का अभेद चिन्तन होता है और इसी भूमिका मे मन की समस्त वृत्तियों का लय होने पर केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। उस केवलज्ञान के द्वारा आत्मा भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल की सभी वस्तुओं के सभी पर्यायों को जान सकती है—देख सकती है अर्थात् सर्वज्ञ की कोटि में विराजमान हो जाती है।

भगवान् महावीर जृम्भिक गाँव के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तरी भाग मे स्थित किसी देवालय के निकट, श्यामाक नामवाले गृहस्थ के खेत मे शालवृक्ष के नीचे, उत्कटिकासन से बैठकर, दो उपवास की तपश्चर्या पूर्वक ध्यानावस्थित हुए थे तब वे इस शुक्लध्यान की दूसरी भूमिका पर पहुँचे और उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। यह शुभदिन वैशाख शुक्ला दशमी का था और केवलज्ञान प्राप्ति का समय दिन का चतुर्थ प्रहर था।

चित्त की चञ्चलता सर्वथा नष्ट होने पर समाहित अवस्था की प्राप्ति होती है और वह अलौकिक आनन्द का अनुभव करवाती है। इस प्रकार भगवान् महावीर को अब सच्चिदानन्द अथवा आनन्दघन अवस्था प्राप्त हो गई थी और वह जीवन के अन्तिम समय तक स्थिर रही थी।

इतना स्मरण रहे कि भगवान् एक महान् राजयोगी थे और उन्होंने उत्तरकाल में अपने शिष्यों को भी राजयोग की ही दीक्षा दी थी।

सामान्यतः योगदीक्षा किसी गुरु से ली जाती है और साधक को गुरु के मार्गदर्शन की पद्धति पर ही आगे बढ़ना पड़ता है, किन्तु भगवान् महावीर ने योगदीक्षा स्वयं ली थी और वे अपने अनुभव के आधार पर ही आगे बढ़कर केवलज्ञान की प्राप्ति तक पहुँचे थे। जैन शास्त्रकारों ने उनको 'स्वयंसम्बुद्ध' कहा है इसका यही कारण है।

भगवान् ने सर्वविध भय जीत लिये थे तथा मृत्युभय पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। साथ ही उन्होंने आन्तरिक काम क्रोधादि सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी इसलिये उनकी गणना 'जिन' में की जाती थी।

उत्कृष्ट योग-साधना उग्र तपश्चर्या, विशुद्ध जीवन और जहाँ जायें वहीं मङ्गल-प्रवर्तन होने से वे सभी के पूजनीय बन गये थे और यही कारण था कि वे 'अर्हत्' के अति माननीय विशेषण से सम्बोधित किये जाते थे।

योग-साधना करते समय भगवान को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ

प्राप्त हुई थी किन्तु उनका उपयोग उन्होंने अपने स्वार्थ के लिये अथवा जगत् को प्रभावित करने के लिये नहीं किया था।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'ध्यानशतक' के प्रारम्भ में भगवान् महावीर की वन्दना योगीश्वर के रूप में की है। इससे मालूम होता है कि भगवान् महावीर परम योगविशारद थे और योग की समस्त क्रियाओं को भली प्रकार से जानते थे।

● दृढ़ता की वास्तविक कसौटी

भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष से कुछ अधिक समय में योग-साधना पूरी की थी। इस योग-साधना-काल में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह समय उनकी दृढ़ता की वास्तविक कसौटी का समय था किन्तु वे अपने ध्येय से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए थे।

वे जगत् के प्राणीमात्र को अपना मित्र मानते थे इसलिये कदापि किसी का अनिष्ट चिन्तन नहीं करते थे। एक बार एक भयंकर दृष्टिविष सर्प ने उनके बाएं पैर में काट लिया, तब भगवान् ने 'हे चण्डकौशिक ! बुज्झ बुज्झ' ये शब्द कहकर उसके कल्याण की कामना की और उसका उद्धार किया। एक बार किसी आरक्षी विभाग के अधिकारी (कोतवाल) ने उनको परराज्य का गुप्तचर मानकर उनके मुख से सच्ची बात (वास्तविक रहस्य) कहलाने के लिये उन्हें रस्सी से कसकर बांध दिया था और कुएं में उतार कर डुबकियां लगवाने की तैयारी की थी तथापि भगवान् ने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया, इतना ही नहीं मन से भी उसका अनिष्ट

नहीं चाहा। उन्होंने अभूतपूर्व दैवी उपसर्गों में भी धैर्य का अवलम्बन किया और 'मित्ती मे सव्वभूएसु—सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री हो' इस भावना का ही दृढ़ता से रटन किया।

भगवान् को सर्वाधिक कष्ट राढ़ के जंगली प्रदेश में हुआ*। इस प्रदेश के वज्रभूमि और शुभ्रभूमि ऐसे दो विभाग थे। इन में वज्र भूमि के लोग अत्यन्त क्रूर और निर्दयी थे। वे इन्हें मारते-पीटते और कुत्तों द्वारा कटवाते। कई बार तो वे भगवान् के शरीर पर शस्त्रों द्वारा प्रहार भी करते और उनके सिर पर धूल बरसाते। कई बार भगवान् को ऊपर से नीचे गिराते तथा आसन से हटा देते। इस प्रदेश में कुछ भाग तो ऐसा था कि जहाँ एक भी गाँव नहीं था और न मनुष्य की बस्ती थी। परन्तु भगवान् ने इस प्रदेश में रह कर भी अपनी योग-साधना आगे बढ़ाई थी तथा एक साधक चाहे तो किस सीमा तक अपनी सहन-शक्ति स्थिर रख सकता है, इसका एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया था।

● साधना-काल की विहार-भूमि

भगवान् चातुर्मास के चार महीनों में एक स्थान पर स्थिर रहते थे और अवशिष्ट आठ महीनों में पृथक्-पृथक् स्थानों पर विचरण करते थे। उन्होंने साधना-काल में विदेह अंग, मगध और काशी-कौशल आदि जनपदों में ही विहार किया था यह साधना-काल के निम्नलिखित चातुर्मासी नामावली से ज्ञात होता है :—

* यह प्रदेश विदेह की पूर्वी सीमा पर था।

पहला चातुर्मास—मोराक सन्निवेश के निकट तापसों के आश्रम में तथा अस्थिक ग्राम में।

दूसरा चातुर्मास—राजगृह नगर से बाहर नालन्दा भाग में एक तन्तुवाय की शाला (कपड़ा बुनने के कारखाने) में।

तीसरा चातुर्मास—अङ्गदेश की राजधानी चम्पा नगरी में।

चौथा चातुर्मास—पृष्ठचम्पा नगरी में।

पाँचवाँ चातुर्मास—भद्दिलपुर में।

छठा चातुर्मास—भद्रिकापुरी में।

सातवाँ चातुर्मास—आलभिका नगरी में।

आठवाँ चातुर्मास—राजगृह में।

नौवाँ चातुर्मास—राढ़ के वज्रभूमि प्रदेश में।

दसवाँ चातुर्मास—श्रावस्ती नगरी में।

ग्यारहवाँ चातुर्मास—वैशाली में।

बारहवाँ चातुर्मास—चम्पानगरी में।

● लोकोद्धार

बहुत से योगी कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर स्वात्मानन्द में ही मस्त रहते हैं और दुनिया की किसी भी प्रवृत्ति में रस नहीं लेते, किन्तु भगवान् महावीर ने कैवल्यप्राप्ति हो जाने के बाद लोकोद्धार का कार्य अपने हाथ में लिया और यही उनके जीवन की असाधारण महत्ता थी।

उन्होंने लोगों को न्याय-नीति-परायण बनाने के लिये, सदाचार

में स्थिर करने के लिये तथा धर्मप्रिय और तत्त्वनिष्ठ बनाने के लिये प्रवचन आरम्भ किये। इन प्रवचनों से असाधारण सफलता मिली जिसके तीन कारण हमें निम्नरूप में विदित होते हैं :—

१—उस समय के धर्मोपदेशक अधिकांश में संस्कृत भाषा का आश्रय लेते थे जिससे उच्च वर्ग के मनुष्य-लाभान्वित हो सकते थे। परन्तु भगवान् ने अपने प्रवचन लोकभाषा में आरम्भ किये। लोक-भाषा अर्थात् अर्धमागधी भाषा। उस समय मगध और उसके आस पास के प्रदेश में यह भाषा बोली जाती थी और इसमें अन्य प्रान्तीय भाषाओं के बहुत से शब्द होने से भारत के सभी मनुष्य इसे अच्छी तरह समझ सकते थे। आज भारत में जो स्थान हिन्दी भाषा का है वही स्थान उस समय अर्धमागधी का था।

२—उस समय धर्मोपदेशकों ने ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णों को ही धर्मोपदेश सुनने का अधिकारी माना था। शूद्रों को धार्मिक उपदेश नहीं सुनाना, यह उनका दृढ़ निश्चय था। इतना ही नहीं अपितु यदि कोई शूद्र गुप्त-रूप से छिपकर धर्मोपदेश सुन जाए तो उसे कठोर दण्ड देना तथा उसके कानों में सीसा अथवा लाख गरम करके भर देना ऐसी योजना उन्होंने गढ़ रखी थी। इस योजना को कहीं-कहीं कार्यान्वित भी किया जाता था। परन्तु भगवान् महावीर ने अपनी धर्म-सभा अथवा व्याख्यान-परिषद् के द्वार देश, वर्ण, जाति और लिंगभेद के बिना सब के लिये खुले कर दिये थे। फलतः सारी प्रजा ने उसका पूरा लाभ लिया।

३—उस समय के धर्मोपदेशक तत्त्वज्ञान के नाम पर अनेक

सम्पटी धर्म किया करते थे परन्तु भगवान् महावीर ने जीवन के परम सत्य बहुत ही स्वाभाविक एवं सरल भाषा में प्रस्तुत किये।

धर्म जीवन का आवश्यक अङ्ग है यह बात भगवान् महावीर ने अनेक उदाहरण और तर्कों द्वारा उचित रीति से समझाई और उसकी परीक्षा करने की प्रमाण विधि भी बतलाई।

भगवान् ने कहा कि 'जहाँ अहिंसा हो प्राणि-मात्र के प्रति दया अथवा प्रेम की भावना हो वही धर्म है ऐसा समझना चाहिये' हिंसा में धर्म होना असम्भव है।'

उन्होंने कहा कि 'जहाँ संयम सदाचार और शील की सुरक्षा हो, वही धर्म है ऐसा समझना चाहिये। असंयम दुराचार अथवा कुशील हो वहाँ धर्म होना असम्भव है।'

उन्होंने यह भी कहा कि 'जहाँ ज्ञान-पूर्वक तप किया गया हो इच्छाओं का दमन किया गया हो तथा तृष्णाओं का त्याग किया गया हो वही धर्म है, ऐसा समझना चाहिये' भोगलालसा, विविध इच्छाओं की पूर्ति अथवा तृष्णाओं के ताण्डव में धर्म होना असम्भव है।'

उनके इन उपदेशों का प्रभाव अत्यन्त आश्चर्यजनक हुआ। (१) हिंसक प्रवृत्तिवाले यज्ञ-यागादि कम हो गये और पशुबलि भी अधिकांश में बन्द हो गई। (२) जीवन के सामान्य व्यवहार में भी अहिंसा का उपयोग होने लगा और पशु-पक्षियों के प्रति दया की भावना विकसित हुई। (३) स्वेच्छाचार-दुराचार बहुत ही कम हो गया। (४) यथासाध्य संयमी जीवन यापन करने के लिये

अभिरुचि उत्पन्न हो गई। (५) जनता तपश्चर्या के वास्तविक स्वरूप को समझ गई और उसकी यथासम्भव आराधना करने लगी।

भगवान् महावीर ने दूसरा एक और महत्व का कार्य यह किया कि उस समय मनुष्य अपने उत्कर्ष के लिये पुरुषार्थ पर विश्वास रखने की अपेक्षा देव-देवियों अथवा यक्ष-व्यन्तरों की कृपा पर अवलम्बित रहनेवाले बन गये थे और उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करते थे। परन्तु भगवान् महावीर ने कहा 'अप्पा सो परमप्पा—तुम्हारी आत्मा है वही परमात्मा है। उसमें ज्ञान और क्रिया की अनन्त शक्ति विराजमान है। तुम इसे प्रकट करना सीखो तो अन्य किसी की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं रहेगी।'

'सुख-दुःख का अनुभव हमें अपने कर्मों के अनुसार होता है अतः सत्कर्म करने की ओर लक्ष्य रखना इस बात को भी भगवान् महावीर ने बहुत ही उत्तम ढंग से समझाया।

इसके अतिरिक्त उन्होंने पुरुषार्थ की पञ्चसूत्री पेश किया जिसे उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पराक्रम का सिद्धान्त कहा जाता है। उसका रहस्य यह है कि सर्वप्रथम मनुष्य को आलस्य नष्ट करके—प्रमाद दूर करके खड़ा होना चाहिये; फिर कार्य में लग जाना चाहिये तदनन्तर उस कार्य में अपना सारा बल लगा देना चाहिये उस कार्य को पूर्ण करने का मन में परिपूर्ण उत्साह रखना चाहिये तथा कार्यसिद्धि के मार्ग में जो विघ्न, कष्ट अथवा कठिनाइयाँ आएँ

उनका डटकर सामना करते हुए आगे बढ़ना चाहिये। इस प्रकार पुरुषार्थ करनेवाले को सिद्धि-सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

भगवान् महावीर अनन्य पुरुषार्थी थे और उन्होंने भारत की जनता को इस रूप में पुरुषार्थी बनने का आह्वान किया था।

● संघ-स्थापना

समाज अपने अधिकार के अनुसार ही धर्म का आचरण कर सकता है इस बात को ध्यान में रखकर भगवान् ने धर्मोपासकों के दो वर्ग बना दिये थे और पुरुष तथा स्त्री दोनों वर्गों को उनमें स्थान दिया था।

जो त्यागी बनकर निर्वाणसाधक योग की उत्तम रीति से साधना करने योग्य थे उन्हें श्रमण-श्रमणी वर्ग में प्रविष्ट किया। श्रमण का वास्तविक अर्थ है—समत्व की प्राप्ति के लिये श्रम करनेवाला साधु, तपस्वी अथवा योगी।

जो त्यागी बनने की स्थिति में नहीं थे किन्तु गृहस्थ-जीवन में रहकर नीति नियम तथा सदाचार पालन करते हुए धार्मिक अनुष्ठान और किसी निर्धारित सीमा तक संयम योग की साधना करने योग्य थे उनका समावेश श्रमणोपासक तथा श्रमणोपासिकाओं में किया। श्रमणोपासक का वास्तविक अर्थ है—श्रमणों की उपासना आराधना किंवा सेवा-भक्ति करके उनसे अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति करनेवाला गृहस्थ (श्रावक)।

भगवान् ने उक्त चारों वर्गों का एक संघ स्थापित किया। यह संघ संसार-सागर से पार होने के लिये एक उत्तम नौका

के समान होने से 'तीर्थ' की संज्ञा को प्राप्त हुआ और उसके संस्थापक के रूप में भगवान् महावीर 'तीर्थङ्कर' कहलाये।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना उचित है कि उनसे पूर्व इस भारत में श्रीऋषभ आदि अन्य तेईस तीर्थङ्कर हो गये थे अतः इनकी गणना चौबीसवें तीर्थङ्कर के रूप में हुई।

भगवान् की अपूर्व—अद्भुत धर्म-देशनाओं द्वारा उक्त संघ दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति प्राप्त करने लगा। इसमें एक उल्लेखनीय घटना तो यह हुई कि केवलज्ञान होने के पश्चात् लाभ का कारण समझकर भगवान् महावीर ने एक साथ में अड़तालीस कोस का विहार किया और वे अपापापुरी आये। यहाँ महासेन वन में धर्मसभा हुई। और उनका अत्यन्त प्रभावशाली प्रवचन सुनकर लोग मुग्ध हो गये। जनता में नगर में बात फैलाई कि 'यहाँ एक सर्वज्ञ आये हैं।' यह सुनकर उस पुरी में एक यज्ञ के लिये एकत्र हुए ब्राह्मण पण्डित चौंके और उनमें से ग्यारह महाविद्वान्—(१) इन्द्रभूति (२) अग्निभूति (३) वायुभूति (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा (६) मण्डिक, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित (९) अचलभ्राता (१०) मेतार्य और (११) प्रभास एक के बाद एक भगवान् की धर्मसभा में उनकी परीक्षा लेने पहुँचे किन्तु भगवान् ने उनके मन में स्थित शास्त्रार्थ-विषय शङ्काओं को बराबर बता दिया और उनका वास्तविक अर्थ भी करके दिखलाया। इससे उन ब्राह्मण पण्डितों ने उसी स्थान पर तत्काल त्यागमार्ग ग्रहण किया और उनके साथ ४४ ब्राह्मण छात्रों ने भी अपने गुरुओं का अनुकरण किया। इस प्रकार एक ही समय में ४४११ ब्राह्मण प्रतिबोध प्राप्त कर उनके संघ में प्रविष्ट हुए।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि को उनके शिष्यगणों का आचार्य अर्थात् गणधर नियुक्त किया तथा उनको प्रथम पट्टशिष्य के रूप में स्थापना की। इन पट्टशिष्यों ने भगवान् के प्रवचनों के भाव धारण कर उन्हीं के आधार पर शास्त्रों की रचना की अर्थात् भगवान् महावीर के वचनामृत के संग्रह का वास्तविक श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।

भगवान् महावीर द्वारा स्थापित धर्माराधक संघ का चित्र अत्यन्त उज्ज्वल था। इस संघ के श्रमणवर्ग में बिम्बिसार (श्रेणिक)-पुत्र मेघकुमार, नन्दिषेण, राजा उदायन, राजा प्रसन्नचन्द्र आदि क्षत्रिय, धन्य शालिभद्र आदि धनकुबेर वैश्य तथा विशाल कारीगर आदि भी बहुत से थे। श्रमणीवर्ग में चन्दनबाला, भगवान् की पुत्री प्रियदर्शना, मृगावती आदि क्षत्रिय-पुत्रियाँ, देवानन्दा आदि ब्राह्मण-पुत्रियाँ तथा वैश्य-पुत्रियाँ आदि भी थीं।

उस समय भी पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का पालन करनेवाले श्रमण और श्रमणियाँ आदि विद्यमान थी वे सब शनैः शनैः भगवान् महावीर द्वारा संस्थापित इस धर्माराधक-संघ में मिल गये।

श्रमणवर्ग में कुछ केवलज्ञान तक पहुँचे थे और कुछ मन के भावों को जानने की स्थिति तक। कुछ दूरस्थित वस्तु के दर्शन कर लेने की सिद्धि तक तो अन्य शरीर को छोटा-बड़ा करने की शक्ति पर्यन्त पहुँच गये थे। इससे यह ज्ञात हो सकता है कि भगवान् के द्वारा स्थापित श्रमणवर्ग में योग-साधना कितनी विकास और विपुल रही होगी। श्रमण-वर्ग में कुछ समर्थ वादी-शास्त्रार्थी भी थे, जो धर्म-सम्बन्धी वाद-शास्त्रार्थ करके जनता को उसका सत्य स्वरूप समझाते थे।

श्रमणोपासक वर्ग में मगधराज श्रेणिक, उनका पुत्र अजातशत्रु कोणिक, वशार्ण देश का राजा दशार्णभद्र अपापापुरी का शासक हस्तिपाल तथा शास्त लिच्छवी और मल्लगण के प्रायः सभी क्षत्रिय राजा थे। आनन्द कामदेव चूलणिपिता सुरादेव चुल्लशतक, कुण्डकोलिक सद्दालपुत्र, महाशतक नन्दनीप्रिय सालिहीपिता आदि अनेक धनपति वैश्य थे। इसी प्रकार ब्राह्मण आदि भी अनेक थे।

श्रमणोपासिकाओं का वर्ग बहुत विशाल था। उसमें जयन्ती सुलसा आदि कई विदुषी सन्नारियाँ सम्मिलित थीं।

● निर्वाण प्राप्ति

भगवान् महावीर ने तीस वर्ष तक भारत के विभिन्न भागों में परिभ्रमण किया और विविध प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियों का आयोजन करके जनता का उद्धार किया इसे भारतीय जनता कब भूल सकती है ?

तीर्थकर जीवन का तीसवाँ चातुर्मास भगवान् ने अपापापुरी के हस्तिपाल राजा की लेखनशाला में किया। वहाँ मल्लगण के भी राजा लिच्छवीगण के भी राजा तथा अन्य अनेक उपासकों को मङ्गलाविस घण्टों तक देशना देकर कार्तिक (आश्विन कृष्ण) अमावास्या को निर्वाण प्राप्त हुए।

ऐसे महान् जगदीपक के बुझ जाने पर उसकी कमी को पूरा करने के लिये उस रात्रि में भव्य दीप-मालाएँ जलाई गईं। तब से दीपावली का पर्व आरम्भ हुआ।

जहाँ प्रभु का अग्निसंस्कार किया गया वहाँ की पवित्र भस्म को जनता बड़े आदर से लेने लगी। बाद में तो वहाँ की मृत्ति भी उठाने का

ही पवित्र मानकर ग्रहण करने लगे। ऐसा करते-करते वहाँ एक बड़ा गड्ढा हो गया और कालान्तर में वही सरोवर बन गया। आज उस सरोवर के बीच एक स्वेत, सुन्दर मन्दिर विराजमान है और प्रतिवर्ष लाखों मनुष्य वहाँ की भावपूर्ण यात्रा करते हैं।

● उपसंहार

भगवान् की वाणी विश्वमैत्री तथा अनुकम्पा के अमृत से सराबोर थी तथा उसमें पुण्यानुराग और मध्यस्थता का अनाहत नाद पूर्णतया गुंजित था। भगवान् की वाणी में सत्य की अनन्त आभा से परिपूर्ण विमल-प्रकाश चमक रहा था और अपने वीर्य अनुभव का निचोड़ यथार्थरूप में प्रकाशित हुआ था। इसीलिये उनकी वाणी शिव-सुन्दर बनी थी और लाखों-करोड़ों मानवों के हृदय में नवचेतना भरने में सफल हुई थी। प्रिय पाठकों! आप इस वाणी का उस वचनामृत का परम श्रद्धा से पान करें यही हमारी अभ्यर्थना है।

शिवमस्तु सर्वजगतः।

आर्तेभाञ्जरी सुधाब्धिसञ्चरी कारुण्यपूर्णेश्वरी
संसारार्णव-सङ्कटे प्रपन्थां तारय नौका तरी।
सर्वेश्यान्तचरी सुषुम्नचरी सततचिन्तामरी
लोकानामभ्यास्य मातु मुखे श्री श्रीरत्नेश्वरी ॥

— प्रदीप तिवारी

श्री महावीर वचनामृत

धारा १

विश्वतन्त्र

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥ २ ॥

[उत्त० अ ३६, गाथा २]

जिसमें जीव भी हो और अजीव भी हो उसे 'लोक' कहते हैं तथा जिसमें अजीव का एक भाग अर्थात् केवल आकाश हो उसे 'अलोक' कहते हैं।

विवेचन—जिसे हम विश्व जगत् अथवा दुनिया कहते हैं उसके दो विभाग हैं : एक लोक और दूसरा अलोक। इनमें लोक जीव और अजीव अर्थात् चेतन तथा जड़ पदार्थों से व्याप्त है, जबकि अलोक में अजीव—जीव रहित आकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो सर्वत्र आकाश ही आकाश फैला हुआ है। उसका एक भाग लोक है जबकि शेष भाग अलोक है—अर्थात् निरवधि आकाश (Infinite Space) है।

प्रसिद्ध गणितज्ञ प्रो० आल्बर्ट आइन्स्टीन इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अपने एक निबन्ध में लिखते हैं कि "लोक परिमित है और अलोक अपरिमित। लोक परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति उससे बाहर नहीं जा सकती। लोक से बाहर उस शक्ति का पूर्णतया अभाव है जो गति में सहायक होती है।"

इस बात का उल्लेख यहाँ पर इसलिए किया गया है कि जैसे जैसे विज्ञान प्रगतिपथ पर आगे बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी भगवान् महावीर द्वारा कथित सिद्धान्तों का दृढ़ता के साथ समर्थन करता जा रहा है।

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जंतवो ।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥२॥

[उत्त० अ० 　　गा० ७]

धर्म अधर्म, आकाश काल पुद्गल और जीव—इन छह द्रव्यों के समूह को सर्वदर्शी जिन भगवन्तों ने लोक कहा है।

विवेचन—लोक जीव और अजीवों से अर्थात् चेतन तथा जड़ पदार्थों से व्याप्त है यह बात ऊपर कही जा चुकी है। किन्तु इसमें मौलिक द्रव्य कितने हैं? इसका स्पष्टीकरण इस गाथा में किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि लोक में मौलिक अथवा मूलभूत द्रव्य कुल मिलाकर छह हैं—पाँच जड़ और एक चेतन। इसमें जड़ की संख्या अधिक होने से इसकी गणना प्रथम की गई है। पाँच जड़ द्रव्यों के नाम इस प्रकार समझने चाहिए :—

१ : धर्म—धर्मास्तिकाय।

२ : अधर्म—अधर्मास्तिकाय

३ : आकाश—आकाशास्तिकाय।

४ : काल।

५ : पुद्गल—पुद्गलास्तिकाय।

चेतन द्रव्य को जीव—जीवास्तिकाय कहा जाता है।

सामान्य तौर पर धर्म और अधर्म शब्द पुण्य और पाप के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ इन्हें द्रव्य के नामविशेष के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

छह द्रव्यों मे से पाँच को अस्तिकाय कहा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि इन द्रव्यों में प्रदेशों का समूह विद्यमान रहता है जबकि काल में प्रदेशों का समूह नहीं होता। अतः उसकी गणना अस्तिकाय में नहीं की जाती।

ये छह द्रव्य ध्रुव हैं नित्य हैं शाश्वत हैं अर्थात् ये किसी के द्वारा उत्पादित नहीं है और न तो इनका आत्यन्तिक विनाश भी होता है। केवल इनके पर्यायों में—इनकी अवस्थाओं मे अवश्य परिवर्तन होता रहता है। और इसी कारणवश यह लोक चिरंतन सनातन होते हुए भी परिवर्तनशील माना जाता है। ऐसे समय में जब पौराणिक मान्यताओं के स्तर असत्य प्रतीत होने लगे थे और विश्व व्यवस्था के लिये ईश्वर नामक एक अगम्य शक्ति-तत्त्व को आगे धरा जाता था तब ऐसी स्पष्ट वैज्ञानिक विचारधारा सर्वज्ञ के सिवाय अन्य दूसरा कौन प्रस्तुत कर सकता था ?

धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो ॥३॥
[उत्त० अ० २८, गा० ८]

धर्म, अधर्म और आकाश—इन तीनों को एक एक द्रव्य कहा गया है जबकि काल पुद्गल और जीव—इन तीनों को अनन्त द्रव्य कहा गया है ।

विवेचन—धर्म द्रव्य समस्त लोक में अखण्ड रूप में स्थित है । अतः वह एक है । हम बुद्धि के द्वारा इसके विभागों की कल्पना कर सकते हैं पर वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं है । अधर्म और आकाश द्रव्य की भी यही स्थिति है । किन्तु काल पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनन्त हैं । फलतः इनका निर्देश संख्या के द्वारा नहीं किया जा सकता । यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जगत् का विज्ञान जिस वस्तु का निर्देश संख्या के द्वारा नहीं कर सकता उसे असंख्यात कहकर छोड़ देता है । परन्तु जैन महर्षियों ने असंख्यात को भी दो विभागों में विभाजित किया है । इसमें से प्रथम विभाग को असंख्यात और दूसरे विभाग को अनन्त कहा गया है । असंख्यात की अपेक्षा अनन्त का प्रमाण बहुत विस्तृत है । असंख्यात किसे कहा जाय इसका स्पष्टीकरण हमें पाँचवीं गाथा के विवेचन से प्राप्त हो सकेगा ।

गइलक्खणो उ धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं ॥४॥
[उत्त० अ० २८, गा० ९]

धर्म-द्रव्य गति-लक्षणवाला है जबकि अधर्म-द्रव्य स्थिति-लक्षणवाला है। और आकाश-द्रव्य अवकाश-लक्षणवाला है साथ ही यह सर्व द्रव्यो के रहने का स्थान है।

विवेचन—प्रत्येक द्रव्य को पहचानने के लिये उसके लक्षणों को जानना आवश्यक है। इसलिये यहाँ इनके लक्षणो का विशेष रूप से निर्देश किया गया है।

धर्म-द्रव्य—यह गति-लक्षणात्मक है इसका तात्पर्य यह है कि स्वभावानुसार स्वय ही गमन करनेवाले चेतन तथा जड पदार्थों को गति करने मे यह सहायक सिद्ध होता है। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि एक द्रव्य स्वय स्वभावगत ही गतिशील हो तो उसे अन्य द्रव्य की सहायता की अपेक्षा क्या आवश्यक क्या है ? इसका यही समाधान है कि जैसे मछली में तैरने की शक्ति रहने पर भी वह जल के बिना तैर नही सकती वैसे ही चेतन और जड पदार्थों म गति करने की स्वय शक्ति है किन्तु वे धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता के बिना गति नही कर सकते। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस बात का स्वीकार किया है कि कोई पदार्थ आकाश म—अवकाश म जो गति करते है, वह ईथर नामक एक अदृश्य पदार्थ के आधार पर ही गतिमान् है। ईथर के स्वरूप के बारे मे इन लोगों में एकमत नही है। किन्तु विशेष संशोधन के परिणामस्वरूप वे धर्मास्तिकाय सिद्धान्त के अधिकाधिक निकट आ रहे है।

अधर्म-द्रव्य—यह स्थिति-लक्षणात्मक है, इसका तात्पर्य यह है कि यह अपने स्वभाव से स्थिर अटल—अचल रहे चेतन और जड पदार्थों

को स्थिर रखने में सहायभूत होता है। स्थिर रहने की इच्छावाले मनुष्य के लिये जैसे स्थिर रहने में शय्या अथवा आसन आदि सहायक सिद्ध नहीं होते क्या ? यहाँ भी तदनुसार ही समझना चाहिये।

धर्म और अधर्म-द्रव्य लोक में व्याप्त हैं अर्थात् लोक से बाहर कहीं नहीं। अतः किसी भी चेतन-जड़ पदार्थ की गति-स्थिति लोक में ही सम्भव है लोक से बाहर नहीं।

आकाश-द्रव्य—यह अवकाश-लक्षणोंवाला है इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रत्येक पदार्थ को अपने भीतर रहने के लिये पर्याप्त स्थान देता है और इसीलिये विश्व के चराचर सभी पदार्थ आकाश में स्थित हैं। आकाश का जितना भाग लोक व्याप्त है उसे लोकाकाश कहते हैं और शेष भाग को अलोकाकाश।

संक्षेप में धर्म यह गतिसहायक द्रव्य (Medium of motion) अधर्म यह स्थितिसहायक द्रव्य (Medium of rest) और आकाश यह अवकाश (Space) रूप है।

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥४॥

[उत्त० अ० २८, गा० १०]

काल वर्तना लक्षणवाला है और जीव उपयोग लक्षणवाला। जीव को ज्ञान दर्शन सुख और दुःख के द्वारा जान सकते हैं।

विवेचन—काल (Time) वर्तना लक्षणवाला है इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ की वर्तना जाननी हो तो यह काल के द्वारा जानी जा सकती है। यह वस्तु है यह

वस्तु थी, यह वस्तु होगी आदि शब्दों के प्रयोग काल के कारण ही हो सकते हैं।

यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि किसी भी क्रिया अथवा परिवर्तन के होने में काल ही मुख्य कारण होता है। काल की सहायता के बिना कोई भी क्रिया अथवा परिवर्तन नहीं हो सकता। किसी साधु-महात्मा के दर्शन के लिए जाना हो तो काल अर्थात् समय चाहिए। किसी उत्तम ग्रन्थ का पारायण करना हो तो भी समय चाहिए। इसी प्रकार गर्भ से बालक होने में बालक से जवान होने में और जवान से वृद्ध होने में भी समय की आवश्यकता है।

काल यह अरूपी—अदृश्य द्रव्य है। अतः इसे कोई पकड़ नहीं सकता। किन्तु संकेत के आधार पर इसका परिमाण—अंदाज निकल सकता है। जैन-शास्त्रों में यह माप-परिमाण इस प्रकार बतलाया गया है :—

काल का निर्विभाज्य भाग	= समय
असंख्यात समय	= आवलिका
संख्यात आवलिका	= श्वास
दो श्वास	= प्राण
सात प्राण	= स्तोक
सात स्तोक	= लव
सतहत्तर लव	= मुहूर्त
तीस मुहूर्त	= अहोरात्र (२४ घण्टे)
पन्द्रह अहोरात्र	= पक्ष

दो पक्ष	= मास महीना
दो मास	= ऋतु
तीन ऋतु	= अयन
दो अयन	= सम्वत्सर (वर्ष
सौ वर्ष	= शताब्दी
दस शताब्दी	= सहस्राब्दी
चौरासी सौ सहस्राब्दी	= पूर्वाङ्ग
चौरासी लाख पूर्वाङ्ग	= एक पूर्व

[इस प्रकार एक पूर्व मे ७०५६ वर्ष होते है ।]

चौरासी लाख पूर्वों को सम्मिलित करें तो एक त्रुटिताङ्ग और ऐसे चौरासी लाख त्रुटिताङ्ग एकत्र करने पर एक त्रुटित होता है। इस तरह आये हुए परिमाण को चौरासी लाख से गुणन करते जायें तो क्रम से अटटाङ्ग अटट, अववाङ्ग अवव, हूहूकाङ्ग हूहूक, उत्पलाङ्ग उत्पल, पद्माङ्ग पद्म, नलिनाङ्ग नलिन, अर्थनिपुराङ्ग अर्थनिपुर, अयुताङ्ग अयुत, नयुताङ्ग नयुत, प्रयुताङ्ग, प्रयुत, चूलिकाङ्ग, चूलिका शीर्षप्रहेलिकाङ्ग और शीर्षप्रहेलिका नामक माप बनते हैं। शीर्षप्रहेलिका के अंकों की संख्या १९४ अंक तक पहुँचती है। अथवा इस से भी कई अधिक गुनी संख्या को असंख्यात कहते हैं।

इस से भी आगे चलकर शास्त्रकारों ने परिमाण बताये हैं। किन्तु उनमें संख्या का कोई उपयोग न होने से उपमानों का आधार लिया

एक वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं —हेमन्त, शिशिर, वसन्त ग्रीष्म वर्षा, और शरद्। अयन दो होते हैं —उत्तरायण और दक्षिणायन।

है। इसप्रकार एक योजन लम्बे एक योजन चौडे तथा एक योजन गहरे गड्ढे को सूक्ष्म केशों के टुकड़ों से भर दिया जाय और उस परसे चक्रवर्ती की सेना निकल जाय फिर भी वह दबे नहीं इतना ठंस-ठूँस कर भर दिया जाय और फिर उस गड्ढे मे से सौ-सौ वर्षों के अन्तर से केश का एक-एक टुकड़ा निकालते रहने पर जितने वर्षों मे वह गड्ढा खाली होगा उतने वर्षों को एक पल्योपम कहते है ऐसे दस कोटा कोटि (१०० ० ० ०x१ ० ००) पल्योपम वर्षों को सागरोपम कहते है। ऐसे बीस कोटाकोटि सागरोपमों का एक कालचक्र बनता है और ऐसे असख्यात कालचक्रों का एक पुद्गलपरावर्त बनता है।

जीव—उपयोग लक्षणवाला है इसका अर्थ यह है कि जीव किसी भी वस्तु को सामान्य अथवा विशेष रूप से जानने के लिये चेतना—व्यापार कर सकता है। वस्तु को सामान्य रूप से जान लेने को दर्शन कहते है और विशेषरूप से जानने को ज्ञान कहते है। चैतन्य का स्फुरण उपयोग है।

जीव को किस प्रकार जाना जा सकता है ? इसके प्रत्युत्तर में यहाँ कहा गया है कि जहाँ ज्ञान हो दर्शन हो तथा सुख-दुःख का भी अनुभव हो उसे जीव समझना चाहिए। हम मे ज्ञान-दर्शन और सुख-दुःख का अनुभव है इसलिये हम जीव है। गाय भैंस आदि पशुओं म चींटी, कबूतर आदि पक्षियों मे तथा जन्तुओं में कीडों में भी कुछ जानने की शक्ति तथा सुख-दुःख का संवेदन होता है। अतः वे भी जीव है; और हरी वनस्पति में भी कुछ जानने की शक्ति तथा सुख दुःख का संवेदन है अतः वह भी जीव है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ ज्ञान

दर्शन अथवा सुख-दुःख का अनुभव दिखाई दे, वे सब जीव हैं, ऐसा समझना चाहिए। इस से विपरीत जिनमें जानने की शक्ति नहीं है अथवा सुख-दुःख का वेदन नहीं है; वह जीव नहीं है। उदाहरण के लिये लोहा, काँच अथवा पत्थर का टुकड़ा। इनमें जानने की शक्ति नहीं है अथवा सुख-दुःख की कोई संवेदना भी नहीं है। अतः ये अजीव हैं।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥६॥

[उत्त० अ० २८, गा० ११]

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य (शक्ति अथवा सामर्थ्य) और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

विवेचन—जहाँ सामान्य अथवा विशेषरूप से किसी प्रकार का ज्ञान देखने में आवे, संयम अथवा तप की आराधना दिखाई दे, वीर्य का स्फुरण प्रतीत हो अथवा उसका उपयोग दिखलाई दे, वे जीव हैं। क्योंकि जीव के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य में ये बातें नहीं होती।

सद्दंधयार उज्जोओ, पहा छायातवे इ वा।
वण्ण-रस-गंध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं॥७॥

[उत्त० अ० २८, गा० १२]

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप—ये पौद्गलिक वस्तुएँ हैं और वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

विवेचन—शब्द अर्थात् ध्वनि अथवा आवाज (Sound) अन्धकार अर्थात् तिमिर अथवा तो अँधियारा। उद्योत अर्थात् रत्नादि का प्रकाश अथवा जगमगाहट। प्रभा अर्थात् चन्द्र आदि का शीतल प्रकाश। छाया अर्थात् प्रतिच्छाया और आतप अर्थात् सूर्य की धूप आदि उष्ण प्रकाश। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं।

कुछ लोग शब्द अर्थात् ध्वनि को आकाश का ही एक गुण मानते थे। किन्तु आधुनिक आविष्कार ने प्रमाणित कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं अपितु पुद्गल का ही एक प्रकार है और इसी से उसे युक्ति के द्वारा पकड़ सकते हैं। ग्रामोफोन का रिकार्ड रेडियो आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

पुद्गल का मुख्य लक्षण वर्ण रस गन्ध और स्पर्श है। इन में से वर्ण के पाँच प्रकार हैं:—(१) कृष्ण—काला (२) नील—नीला (३) पीत—पीला (४) रक्त—लाल और (५) श्वेत—सफेद। रस के भी पाँच प्रकार हैं:—(१) तिक्त—तीखा (२) कटु—कडुआ (३) मधुर-मीठा (४) अम्ल—खट्टा और (५) कषाय—कसैला। गन्ध के दो प्रकार हैं:—(१) सुगन्ध और (२) दुर्गन्ध। स्पर्श के आठ प्रकार हैं:—(१) स्निग्ध चिकना (२) रुक्ष—रूखा (३) शीत—ठंडा (४) उष्ण—गर्म (५) मृदु—कोमल (६) कर्कश—कठोर (७) गुरु—भारी (८) लघु—हलका।

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिआ भवे ॥८॥
[उत्त अ २८, गा ६]

द्रव्य गुणों को आश्रय देता है और गुणों का आश्रय द्रव्य है। अनेक गुण एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं। परन्तु पर्याय का लक्षण यह है कि वह द्रव्य और गुण दोनों का आश्रित रहता है।

विवेचन—द्रव्य गुणों को आश्रय देता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के अपने विशिष्ट गुण होते हैं। ये गुण द्रव्याश्रित होते हैं। अतः वे द्रव्य के साथ ही रहनेवाले होते हैं उससे अलग नहीं होते। उदाहरण के लिये चैतन्य जब जीवद्रव्य का गुण है तभी वह उसके साथ ही देखने में आता है किन्तु उससे पृथक नहीं। पर्याय अर्थात् अवस्था विशेष। यह भी द्रव्य और गुण दोनों के आधार पर ही होता है परन्तु निरे द्रव्य पर अथवा गुण पर नहीं होता। जैसे कि घट यह पुद्गल का पर्याय है। इसमें पुद्गल द्रव्य भी है और स्पर्श, रस वर्ण गन्ध आदि गुण भी। सारांश यह है कि विश्व की व्यवस्था करनेवाले जिन छह द्रव्यों की गणना ऊपर की गई है वे छहों द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त होते हैं। वे कभी भी गुण रहित अथवा पर्याय रहित नहीं होते। श्री उमास्वाति वाचक ने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' के पाँचवें अध्याय में 'गुण पर्यायवद् द्रव्यम् ॥३७॥' इस गाथा के माध्यम से यह बात स्पष्ट की है। यहाँ केवल इतना ही समझना है कि गुण यह सहभावी है अर्थात् सदा साथ रहने वाला है और पर्याय क्रमभावी है यानी एक पर्याय का नाश होने पर नया पर्याय उत्पन्न होने वाला है। यह भी अपेक्षा से सत्य होता है। अन्यथा गुणों में से प्रत्येक गुण क्रमशः परिवर्तनशील है उदाहरणार्थ पहले अमुक ज्ञान बाद में दूसरा ज्ञान उसके बाद में तीसरा ज्ञान। इस तरह देखा जाय तो गुण भी अन्त में पर्याय ही है।

भगवान् महावीर ने द्रव्य का लक्षण सत् माना है और उसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य-सत्तक बतलाया है। इसका भी यही रहस्य है। किसी भी द्रव्य में नये पर्याय की उत्पत्ति तभी होती है जबकि उसके पुरातन पर्याय का व्यय हो—नाश हो। ये दोनों क्रियाएं साथ-साथ ही होती हैं अर्थात् पुराना पर्याय नष्ट होता जाता है और नया पर्याय उत्पन्न होता रहता है। मनुष्य बालक से युवा बनता है। उस समय बचपन मिटने की और जवानी आने की क्रिया भिन्न भिन्न समय पर नहीं होती बल्कि एक साथ ही होती है। इसी तरह पुराने पर्याय का नाश और नवीन पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी मूल द्रव्य तो ध्रौव्य-सत्तक (अटल) होने के कारण स्थिर ही रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पर्याय के इस रूपान्तर के समय भी इसके मौलिक गुण-मूलभूत वस्तु तो बनी ही रहती है और इसी कारणवश द्रव्य के नैरन्तर्य का हम अनुभव करते हैं जैसे बाल्यावस्था युवावस्था आदि में मनुष्यत्व स्थिर है मानव के सहज गुण स्थित हैं।

एगत्त च पुहुत्तं च संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाण तु लक्खणं ॥६॥

[उत्त अ २८ गा १३]

एकत्व पृथक्त्व संख्या संस्थान संयोग और विभाग ये पर्यायों के लक्षण हैं।

विवेचन—पर्याय यह द्रव्य की एक अवस्था है द्रव्य का परिणाम है। ऐसे अनेकानेक परिणाम द्रव्य में होते हैं। हम वस्तु के

एकत्व का, पृथक्त्व का, संख्या का, संस्थान अर्थात् आकार का, संयोग अर्थात् किसी के साथ जुड़ने का और विभाग अर्थात् उसके पृथक् २ भागों का ज्ञान ये सब पर्याय के कारण ही होता है। उदाहरणार्थ भिन्न भिन्न परमाणुओं द्वारा निर्मित होने पर भी—यह एक घड़ा है ऐसा ज्ञान उसके घटत्व-पर्याय के द्वारा ही हमें होता है। यह घटत्व भी का एक परिणाम है। यह घड़ा दूसरे से पृथक् है यह ज्ञान भी उसके पर्याय से ही ज्ञात होता है। यह एक है, दो है या दो से अधिक है इसका ज्ञान भी उसके पर्याय से ही होता है, ठीक वैसे ही यह गोल है, लम्बा है अथवा अमुक आकार का है, इसका ज्ञान भी उसके पर्याय से ही होता है। यह पटिये से जुड़ा हुआ है अथवा भूमि से संलग्न है, इसका ज्ञान भी उसके पर्याय द्वारा ही होता है साथ ही यह घड़े का सिरा है यह घड़े का बीच का भाग है, यह ज्ञान भी उसके पर्याय के आधार पर ही किया जाता है।

★

धारा २

सिद्ध जीवों का स्वरूप

ससारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धा णेगविहा वुत्ता, त मे कित्तयओ सुण ॥१॥

[उत्त अ ३६, गा ४८]

जीव दो प्रकार के कहे गये हैं :—ससारी और सिद्ध। क्योंकि सिद्ध अनेक प्रकार के बताये गये हैं उनका वर्णन मेरे द्वारा सुनो।

विवेचन—इस लोक मे जीव अनन्त हैं वे मुख्यतः दो विभागों मे विभाजित हैं :—ससारी और सिद्ध। जो जीव कर्मवशात् ससार मे परिभ्रमण कर रहे हैं अर्थात् नरक तिर्यंच, मनुष्य और देवादि चार गतियों मे बार-बार जन्म धारण कर जन्म-जरा-मरणादि के दुःख भोग रहे हैं वे ससारी और जो जीव कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो जान के कारण संसार-सागर पार कर गये हैं, वे सिद्ध। उनमे से सिद्ध बने हुए जीवों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। सिद्ध के जीव अनेक प्रकार के हैं जैसे कि—

इत्थीपुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।
सलिंग अन्नलिंगे य, गिहिलिंग तहेव य ॥२॥

[उत्त अ ३६, गा ४९]

अर्थात् स्त्रीलिंगसिद्ध पुरुषलिंगसिद्ध नपुंसकलिंगसिद्ध स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध, गृहलिंगसिद्ध आदि।

विवेचन—सिद्ध होने के बाद सभी जीव समान अवस्था को प्राप्त होते हैं किन्तु सिद्ध बनने के समय सभी जीवों की अवस्था एक सी नहीं होती। इस अवस्था-भेद को समझाने के लिये ही यहाँ पर सिद्ध के विविध प्रकारों का वर्णन किया गया है।

चार गतियों में संसरण करनेवाले जीव केवल मनुष्य गति के माध्यम से ही सिद्ध बन सकते हैं, अर्थात् यहाँ पर वर्णित समस्त प्रकार मनुष्य से सम्बन्धित ही समझने चाहिए।

लिंग की दृष्टि से मनुष्य के तीन भेद होते हैं :—स्त्री पुरुष और नपुंसक। इन तीनों लिंगों के द्वारा मनुष्य सिद्ध गति प्राप्त कर सकता है। चन्दनबाला स्त्रीलिंग से सिद्ध बनी इलाचीकुमार पुरुष-लिंग में रहते हुए सिद्ध बने और गांगेय नपुंसकलिंग में सिद्ध हुए। तात्पर्य यह है कि सिद्धावस्था प्राप्त करने में लिंग किसी भी रूप में बाधक नहीं होता। जो कोई कर्मों का क्षय करता है वह अवश्य सिद्धावस्था प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य स्वलिंग में अर्थात् श्रमण के वेश में ही सिद्ध होता है। किन्तु अपवाद रूप में अन्य वेश में भी सिद्ध हो सकता है। वहाँ पूर्वजन्म के स्मरणादि से श्रमण-जीवन का ज्ञान होता है और बीच अन्तर्मुहूर्तपूर्वक सर्वविरति अप्रमत्त दशा अनासक्त भाव आदि में चढ़ जाते हैं वैसा बनता है। श्री गौतमादि महामुनि स्वलिंग में सिद्ध हुए तथा वल्कलचीरी आदि महानुभाव तापस-वेश

मे सिद्ध बने। ठीक वैसे ही इलाचीकुमार आदि कुछ महानुभाव अन्त तक गृहिलिंग अर्थात् गृहस्थ-वेश मे ही रह कर सिद्ध बने हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्ध बनने में वेश कोई अन्तिम महत्त्व की वस्तु नहीं है, बल्कि कर्मक्षय ही अन्तिम महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

यहाँ छह प्रकारों का स्पष्ट निर्देश किया गया है और आदि पद के द्वारा अन्य प्रकारों की सम्भावितता दिखलाई गई है। अतः यह स्पष्ट करना अत्यंत आवश्यक है कि जैन सिद्धान्त मे कुल पन्द्रह प्रकार के सिद्ध माने गये हैं। इस तरह अब नौ तरह के सिद्धों का वर्णन शेष रहा जो यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद के आधार पर दिया जाता है :—

७ : *तीर्थसिद्ध*—तीर्थ के अस्तित्व-काल में सिद्ध बने हुए। यहाँ तीर्थ शब्द का अर्थ श्री जिनेश्वर भगवन्तों द्वारा स्थापित साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूपी चतुर्विध संघ समझना चाहिए।

८ : *अतीर्थसिद्ध*—तीर्थ की स्थापना होने से पूर्व या तीर्थ के व्यवच्छेद काल मे जातिस्मरणादि ज्ञान से सिद्ध बने हुए।

९ : *तीर्थङ्करसिद्ध*—श्रीऋषभदेव आदि की तरह तीर्थङ्कर बनकर सिद्ध बने हुए।

१० : *अतीर्थङ्करसिद्ध*—श्री भरतचक्रवर्ती आदि के समान सामान्य केवली होकर सिद्ध बने हुए।

११ : *स्वयम्बुद्धसिद्ध*—श्रीअतिमुक्तकुमार आदि के समान स्वयं-मेव बोध प्राप्त कर सिद्ध बने हुए।

१२ : *प्रत्येकबुद्धसिद्ध*—श्री करकण्डू आदि के समान किसी निमित्त मात्र से बोध प्राप्त कर सिद्ध बने हुए।

१३ : *बुद्धबोधितसिद्ध*—आचार्यादि गुरुओं से बोध प्राप्त कर सिद्ध बने हुए।

१४ : *एकसिद्ध*—एक समय में एक सिद्ध बने हुए।

१५ : *अनेकसिद्ध*—एक समय में अनेक सिद्ध बने हुए।

कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ? ।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं ? कत्थ गतूण सिज्झइ ॥ २ ॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ५५]

सिद्ध बननेवाले जीव कहाँ जाकर रुकते हैं ? कहाँ स्थिर होते हैं ? कहाँ शरीर का त्याग करते हैं ? और कहाँ जाकर सिद्ध बनते हैं ?

विवेचन—जिन जीवों ने चार घाती कर्मों का क्षय किया हो, वे अन्त समय में अवशिष्ट चार अघाती कर्मों का अवश्य क्षय करते हैं और इस प्रकार समस्त कर्मों से मुक्त हो देह त्याग करते हैं। उस समय वे अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति को प्राप्त करते हैं और ऊपर चले जाते हैं। इस प्रकार गति करने वाला जीव कहाँ जाकर रुकता है यह भी एक प्रश्न है। ठीक वैसे ही रुक जाने के पश्चात् वे कहाँ स्थिर होते हैं ? यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। साथ ही सिद्ध होने वाला जीव अन्तिम देहत्याग कहाँ करता है ? और कहाँ जाकर सिद्ध होता है ? यह भी स्पष्ट होना आवश्यक

है। इन समस्त उलझनमय प्रश्नों के उत्तर निम्नलिखित गाथाओं से यों दिये गये हैं :—

> अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
> इह बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झई ॥४॥
>
> [उत्त अ ३६ गा ५६]

सिद्ध जीव अलोक की सीमा पर आकर रुकते हैं और लोक के अग्रभाग पर स्थिर होते हैं। वे यहाँ अर्थात् मनुष्यलोक में शरीर त्याग करते हैं तथा लोकाग्र पर पहुँच कर सिद्ध-गति प्राप्त करते हैं।

विवेचन—ऊर्ध्व गति करनेवाला जीव जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य रहता है वहाँ तक ही गति करता है। वहाँ से आगे गति कर नहीं सकता क्योंकि वहाँ गति करने के लिए सहायभूत धर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं होता फलतः वह अलोक की सीमा पर आ रुकता है। जीव यदि धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता के बिना भी गति करने में समर्थ हो तो उसकी यह ऊर्ध्व गति निरन्तर चालू हो रहेगी और कभी किसी काल में उसका अन्त नहीं आयेगा क्योंकि आकाश का अन्त नहीं है।

ऊर्ध्व गति करता हुआ जीव जिस स्थान पर रुकता है वह लोक का अग्रभाग है। वहाँ पहुँचने के पश्चात् वह किसी प्रकार की गति नहीं करता अर्थात् वहीं पर स्थिर हो जाता है और अनन्त काल तक इसी अवस्था में रहता है।

सिद्ध बनने वाला जीव सामान्यतः मनुष्यलोक की मर्यादा में ही अपना शरीर छोड़ता है और वह जब लोकाग्र पर पहुँचता है तभी

सिद्ध बन गया माना जाता है। अतः सिद्ध शब्द का अर्थ 'सिद्धिस्थान प्राप्त' ऐसा समझना चाहिये।

सिद्ध बने हुए जीव परमात्मदशा को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् उनकी दशा परमात्मा के रूप में होती है और इसीलिये उन्हें अरिहन्त भगवन्त के समान वन्दनीय तथा पूजनीय माना जाता है।

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥५॥
पणयालसयसहस्सा, जोयणाण तु आयया।
तावइयं चेव विच्छिन्ना, तिगुणो साहिय परिरओ ॥६॥
अट्ठजोयणबाहल्ला, सा मज्झमि वियाहिया।
परिहायंती चरिमन्ते, मच्छियपत्ताउ तणुयरी ॥७॥
अज्जुणसुवन्नगमई सा पुढवी निम्मला सहावेण।
उत्ताणयछत्तयसंठिया य भणिया जिणवरेहिं ॥८॥
संखककुंदसंकासा पंडुरा निम्मला सुभा।
सीयाए जोयणे तत्तो लोयंतो उ वियाहिओ ॥९॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ५७ से ६१]

सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर छत्र के आकारवाली ईषत्प्राग्भार नामक पृथ्वी है। वह पैंतालीस लाख योजन लम्बी और इतनी ही चौड़ी तथा इसके तिगुनेपन से अधिक परिधिवाली है। तात्पर्य यह है कि वह वर्तुलाकार है। वह पृथ्वी मध्य भाग से आठ

योजन मोटी है वहाँ से कम होते-होते अन्तिम सिरे पर मक्खी के पंख से भी अधिक पतली बनी हुई है। यह ईषत्प्राग्भार पृथ्वी स्वभाव से ही निर्मल और अनुम नामक श्वेत सुवर्ण के समान है। श्री जिनेश्वर भगवन्तों का कथन है कि उसका आकार उल्टे किये हुए छत्र के समान है। यह पृथ्वी शंख अंक रत्न तथा कुन्द पुष्प के समान श्वेत निर्मल और सुहावनी है। उसी पर लोक का अन्त भाग माना गया है।

विवेचन—हम मनुष्यलोक मे निवास करते है। यहाँ से जब अधिकाधिक ऊपर जाते है तो सर्व प्रथम ज्योतिषचक्र अर्थात् सूर्य चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तारे आदि के दर्शन होते है उसके ऊपर बारह देवलोक है और उसके ऊपर नवग्रैवेयक नामक विमान। उक्त नवग्रैवेयक विमान के ऊपर पाँच अनुत्तर विमान स्थित है उन्ही मे से एक विमान सर्वार्थसिद्ध है। मनुष्यलोक से उसकी ऊँचाई करोडो मील दूर है ; जबकि उससे भी बारह योजन ऊपर ईषत् प्राग्भार नामक पृथ्वी है। इसका परिमाण उतना ही है, जितना कि मनुष्यलोक का है। अन्य वर्णन स्पष्ट है।

जोयणस्स उ जो तस्स, कोसो उवरिमो भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥१०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ६२]

वहाँ एक योजन मे ऊपर के एक कोस के छठे भाग मे सिद्धो की अवगाहना है अर्थात् सिद्धो के जीव वहाँ स्थित है।

विवेचन—इस स्थान को सिद्धशिला कहते है।

अरूविणो जीवघणा, नाण-दंसण-सण्णिया ।
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥११॥

[उत्त० अ० ३६, गा ६६]

सिद्धों के वे जीव—सिद्ध भगवान्त अरूपी हैं, घन हैं (उनके जीव प्रदेशों के बीच कोई खोखलापन नहीं है) ज्ञान और दर्शन से युक्त हैं तथा अपरिमित सुख प्राप्त है। उनकी उपमा देने के लिए दूसरा कोई शब्द ही नहीं है।

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥१२॥

[उत्त० अ० २३, गा ८१]

लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है जहाँ जरा मृत्यु रोग और दुःख नहीं हैं परन्तु वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरन्ति महेसिणो ॥१३॥

[उत्त० अ० २३ गा० ८३]

उस स्थान के निर्वाण, अबाध, सिद्धि लोकाग्र, क्षेम शिव और अनाबाधादि अनेक नाम प्रचलित हैं। उसे महर्षिगण ही प्राप्त करते हैं।

विवेचन—अबाध अर्थात् पीड़ा-रहित। अनाबाध अर्थात् उसके स्वाभाविक सुख में अन्तराय-रहित।

त ठाणं सासय वास, लोगग्गमि दुरारुह ।
ज सपत्ता न सोयति, भवोहन्तकरा मुणी ॥ १४ ॥

[उत्त० अ० २३ गा० ८४]

हे मुने ! यह स्थान शाश्वत निवासरूप है लोक के अग्रभाग पर स्थित है किन्तु वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है। जिन्होंने उस स्थान को प्राप्त किया है, उनके ससार का अन्त हो जाता है और उन्हें किसी प्रकार का शोक नहीं होता।

धारा [illegible] :

संसारी जीवों का स्वरूप

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया ।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥१॥

[उत्त अ ३६ गा ६]

संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं :—त्रस और स्थावर । उनमें से स्थावर के तीन प्रकार हैं ।

विवेचन—सिद्ध के जीवों का वर्णन पूरा हुआ । अब संसारी जीवों का वर्णन आरम्भ होता है । संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं :—(१) त्रस अर्थात् चर—हिलने डुलनेवाले गतिशील और (२) स्थावर अर्थात् अचर—स्थिर ।

पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेते थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥२॥

[उत्त अ ३६, गा ६९]

स्थावर जीव पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक ऐसे तीन प्रकार के हैं, जिनके भेद मेरे द्वारा सुनो ।

विवेचन—पृथ्वी—मिट्टी ही जिसकी काया है वह पृथ्वीकायिक जीव अप्—पानी ही जिसकी काया है वह अप्कायिक जीव और

वनस्पति हो जिसकी काया वह है वनस्पतिकायिक जीव कहलाता है। इन तीनों प्रकार के जीवों का समावेश स्थावर में होता है।

दुविहा पुढवीजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥२॥
[उत्त अ ३६, गा ७]

पृथ्वीकायिक जीव के दो प्रकार हैं :—सूक्ष्म और बादर। ठीक वैसे ही इनमें से प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो और प्रकार होते हैं।

विवेचन—यहाँ सूक्ष्म शब्द से ऐसे सूक्ष्म जीवों का निर्देश किया है जो किन्हीं भी संयोगों में दृष्टिगोचर नहीं होते इतना ही नहीं बल्कि उन पर शस्त्रादि किसी अन्य जीव के प्रयोग का कोई असर नहीं होता। ऐसे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं। बादर शब्द स्थूलतावाचक है। किन्तु बादर पृथ्वीकायिक एक जीव का शरीर हमारी दृष्टि का विषय नहीं बन सकता। हम पृथ्वीकाय का जो शरीर देखते हैं वह असंख्य जीवों के असंख्य शरीर का एक पिण्ड होता है वह समुदित अवस्था में देखा जा सकता है अतः उसे बादर कहा गया है।

जीव विग्रह गति द्वारा नये उत्पत्तिस्थान पर पहुँचने पर जीवन धारण करने के लिये आवश्यक ऐसे पुद्गल एकत्र करने लगता है जिसे आहार की क्रिया कहते हैं। उसी आहार से वे वह शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास भाषा और मन की रचना करता है। शास्त्रीय परिभाषा में इन छह वस्तुओं को पर्याप्ति कहा जाता है।

परन्तु सभी जीव छहों पर्याप्तियों के अधिकारी नहीं हैं। एकेन्द्रिय जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, और श्वासोच्छ्वास—इन चार पर्याप्तियों के अधिकारी हैं। दो इन्द्रियवालों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव पाँचवी भाषापर्याप्ति के भी अधिकारी हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव छहों पर्याप्ति के अधिकारी हैं।

यहाँ इतनी स्पष्टता करना आवश्यक है कि यदि हम इन्द्रिय के आधार पर संसारी जीवों का विभाजन करें तो पाँच विभाग होते हैं —(१) एकेन्द्रिय (२) बेइन्द्रिय (३) तेइन्द्रिय (४) चतुरिन्द्रिय और (५) पंचेन्द्रिय। इनमें से एकेन्द्रिय जीव को एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है। स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् स्पर्श पहचाननेवाली इन्द्रिय; इसका मुख्य साधन चमड़ी है। बेइन्द्रिय जीव को स्पर्शनेन्द्रिय के अतिरिक्त रसनेन्द्रिय भी होती है। रसनेन्द्रिय अर्थात् रस-स्वाद का परीक्षण करनेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन जिह्वा है। तेइन्द्रिय जीव को इन दो इन्द्रियों के अतिरिक्त तीसरी घ्राणेन्द्रिय भी होती है। घ्राणेन्द्रिय अर्थात् गन्ध परखनेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन नासिका है। चतुरिन्द्रिय जीव को इन तीन इन्द्रियों के अतिरिक्त चौथी चक्षुरिन्द्रिय भी होती है। चक्षुरिन्द्रिय अर्थात् वस्तुओं को देखनेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन चक्षु—आँख है। और पंचेन्द्रिय जीव को इन चार के उपरान्त पाँचवी श्रोत्रेन्द्रिय भी होती है श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् सुननेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन कान है।

इनमें से एकेन्द्रिय के जीव चार पर्याप्ति के अधिकारी हैं। अतः

जब वे पहली चार पर्याप्तियाँ पूर्ण करें तब पर्याप्त कहलाते हैं और यदि उन जीवों ने ये पर्याप्तियाँ पूर्ण न की हों अथवा पूर्ण किये बिना ही मृत्यु प्राप्त हो जायें तो अपर्याप्त कहलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीव एकेन्द्रिय हैं अतः उन्हें चार पर्याप्तियाँ पूर्ण करनी पड़ती हैं।

यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि कोई भी जीव आहार, शरीर और इन्द्रियादि तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना मृत्यु नहीं पाता।

इस वर्गीकरण के अनुसार पृथ्वीकायिक जीव के मुख्य चार भेद होते हैं :—

१ : सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।
२ : सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।
३ : बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।
४ : बादर अपर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥४॥
[उत्त० अ० ३६, गा० ७१]

पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीव के दो भेद कहे गये हैं :—श्लक्ष्ण अर्थात् कोमल और खर अर्थात् कठोर। इनमें से श्लक्ष्ण पृथ्वी सात प्रकार की है।

किण्हा नीला य रुहिरा य, हलिद्दा सुक्किला तहा।
पंडुपणगमट्टिया, खरा छत्तीसईविहा ॥ ५ ॥
[उत्त० अ० ३६, गा० ७२]

काली नीली (स्लेटिया अथवा हरी) लाल पीली सफेद, पाण्डु (कुछ लाली पीली मटई वाली) और पनक (अत्यन्त सूक्ष्म रजोकण)। कठिन खर पृथ्वी छत्तीस प्रकार की है।

पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तउय-तम्ब-सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वयरे य ॥ ६ ॥
हरियाले हिंगुलुए मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भपडलब्भवालुय बायरकाये मणिविहाणे ॥७॥
गोमेज्जए य रुयगे अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले भुयमोयग-इंदनीले य ॥ ८ ॥
चंदण-गेरुय-हंसगब्भपुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
चंदप्पह—वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥९॥
[उत्त० अ० ३६, गा० ७३ से ७६]

१ : शुद्ध पृथ्वी।
२ : कंकड़।
३ : वालुका—रेती।
४ : उपल—छोटे पत्थर।
५ : शिला—पत्थर की बड़ी चट्टान।
६ : लवण—समुद्र के जल से तैयार होने वाला नमक।
७ : खारी मिट्टी—क्षार।
८ : लोहा—खदान में होता है तब। बाद में रासायनिक

प्रक्रिया से वह टुकड़े अथवा प्रतरों का रूप धारण करता है, उस स्थिति में वह अजीव बनता है।

९ : सीसा

१० : ताँबा ,,

११ : जस्ता

१२ : चाँदी

१३ : सोना

१४ : वज्र—हीरा। खदान में होता है तब।

१५ : हरताल—

१६ : हिंगुल— ,,

१७ : मेनसिल— ,,

१८ : सासक—एक प्रकार की धातु।

१९ : अंजन—सुरमा।

२० : प्रवाल—मूंगा।

२१ : अभ्रक—खान से निकलता है।

२२ अभ्रवालुका—अभ्रक के मिश्रण वाली रेती।

इन बाईस प्रकार में चौदह रत्नों को मिला देने से कुल छत्तीस प्रकार हो जाते हैं। चौदह रत्नों के नाम इस प्रकार समझने चाहिए :—

२३ : गोमेदक।

२४ : रुचक।

२५ : अंकरत्न

२६ : स्फटिक और लोहिताक्ष ।

२७ : मरकत और मसारगल्ल ।

२८ : भुजमोचक ।

२९ : इन्द्रनील ।

३० : चन्दन—गैरिक और हंसगर्भ ।

३१ : पुलक ।

३२ : सौगन्धिक ।

३३ : चन्द्रप्रभ ।

३४ : वैडूर्य ।

३५ : जलकान्त ।

३६ : सूर्यकान्त ।

रत्नपरीक्षा आदि ग्रन्थों में इन रत्नों का विशेष वर्णन किया हुआ है। ये सभी रत्न पृथ्वी में होते हैं तब जीवन-शक्ति से युक्त होने के कारण इनकी गणना पृथ्वीकायिक जीवों में की जाती है। बाहर निकलने के पश्चात् इनमें जीवन-शक्ति नहीं रहती। अतः ये अजीव माने जाते हैं।

> एएसिं वण्णओ चेव, गन्धओ रसफासओ ।
> संठाणदेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१०॥
> [उत्त० अ० ३६, गा० ८३]

इन जीवों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान द्वारा हजारों भेद होते हैं।

दुविहा आऊजीवा उ सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो ॥११॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥१२॥
[उत्त अ ३६ गा ८४-८६]

अप्कायिक जीव के दो प्रकार हैं :—सूक्ष्म और बादर। ठीक वैसे ही इनके पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो भेद होते हैं।

जो बादर पर्याप्त अप्काय जीव हैं वे पाँच प्रकार के कहे गये हैं :—(१) शुद्धोदक—मेघ का जल (२) ओस (३) तृण के ऊपर के जलबिन्दु, (४) कुहासा और (५) बर्फ।

विवेचन—अप्कायिक सूक्ष्म जीव पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीवों के समान ही सूक्ष्म हैं और वे सब लोक में व्याप्त हैं।

दुविहा वणस्सईजीवा, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥१३॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया ।
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥१४॥
पत्तेयसरीराओ, ऽणेगहा ते पकित्तिया ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥१५॥
वलया पव्वया कुहणा, जलरुहा ओसही तहा ।
हरियकाया य बोधव्वा, पत्तेया इति आहिया ॥१६॥

माहारणमसरीराओ, ज्भेगहा ते पकित्तिया ।
आलूए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ॥१७॥
[उत्त अ ३६, गा० ९२ से ९९]

वनस्पतिकायिक जीव सूक्ष्म और बादर —इस तरह दो प्रकार के हैं और उनके प्रत्येक के पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो प्रकार होते हैं।

जो बादर पर्याप्त हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं :—साधारण-शरीरी तथा प्रत्येक-शरीरी।

प्रत्येक-शरीरी के अनेक भेद कहे गये हैं। जैसे कि—वृक्ष गुच्छ, गुल्म, लता वल्ली तृण, वलय पर्वज, कुहुण जलरुह, औषधि हरितकाय आदि।

साधारण शरीरी भी अनेकविध कहे गये हैं। जैसे कि—आलू, मूली शृंगबेर आदि।

विवेचन—वनस्पतिकायिक सूक्ष्म जीव भी पृथ्वीकायिक सूक्ष्म-जीवों के समान ही सूक्ष्म हैं और वे समस्त लोक मे व्याप्त हैं।

अनेक जीवों का एक समान शरीर हो वह साधारण (समान) शरीरी कहलाता है और एक जीव के एक ही शरीर हो वह प्रत्येक-शरीरी कहलाता है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि—फल, पुष्प, छाल लकड़ी मूल पत्ते और बीज—इन प्रत्येक का स्वतन्त्र शरीर माना गया है।

साधारण शरीरी को साधारण वनस्पति और प्रत्येक-शरीरी को प्रत्येक वनस्पति कहा जाता है। इन दोनों वनस्पतियों को

जिस प्रकार पहचाना जाय इसका समुचित उत्तर जीवविचार-प्रकरण की निम्न गाथा में दिया गया है :—

> गूढसिरसंधिपव्वं समभंग महीरुगं च छिन्नरुहं।
> साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं॥ १२॥

जिसके मुट्ठा सिराएँ और सन्धियाँ आदि गुप्त हों जिसके टूटने से समान भाग हों तथा तन्तु आदि न निकलें साथ ही जिसे काट कर पुनः उगाया जाय तो उग जाय उसे साधारण वनस्पति जानना तथा इससे विपरीत लक्षणवाली हो उसे प्रत्येक वनस्पति समझना।

प्रत्येक-वनस्पति के अनेक प्रकार हैं। जैसे कि :—

१ : वृक्ष—आम नीम आदि।
२ : गुच्छ—बैंगन (वन्ताकडी) आदि।
३ : गुल्म—नवमल्लिका आदि।
४ : लता—चम्पकलता आदि।
५ : वल्ली—कूष्माण्ड तुरई आदि।
६ : तृण—घास।
७ : वलय—वलयाकृतिवाली विशिष्ट वनस्पति।
८ : पर्वज—गन्ना आदि पर्व (गांठ) वाली वनस्पति।
९ : कुहण—भूमि को फोड़कर निकलनेवाली वनस्पति।
१० : जलरुह—जल में उगनेवाले—कमल आदि।
११ : औषधि—धान्यवर्ग गेहूं आदि।
१२ : हरित—भाजी पत्तियाँ।

साधारण वनस्पति के भी अनेक प्रकार होते हैं। यहाँ आलू मूली शृङ्गवेर आदि के ही नाम दिये गये हैं ये सब कन्द हैं। आलू अर्थात् आलू-कन्द। मूली प्रसिद्ध है। शृङ्गवेर अर्थात् अदरक। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के कन्दों की गणना साधारण वनस्पति में करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त समस्त वनस्पतियों के अंकुर, कोंपलें, कोमल फल तथा जिनके काटने और पिरोने पर गुण हो उनकी गणना भी साधारण वनस्पति में करनी चाहिये। साधारण वनस्पति को अनन्तकाय भी कहते हैं क्योंकि उसके एक सूक्ष्म शरीर में अनन्त जीव होते हैं।

तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१८॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १०७]

त्रस जीव तीन प्रकार के हैं :—तेजस्कायिक वायुकायिक और प्रधान त्रसकाय। इनके भेद मुझ से सुनो।

विवेचन—तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव एकेन्द्रिय हैं किन्तु वे हिलने-डुलनेवाले होने के कारण उनकी गणना त्रस में की गई है।

जो जीव स्वतन्त्र होकर हिलने-डुलने लगते हैं वे प्रधान त्रस कहलाते हैं। इन दोनों के भेद बाद में कहे जायेंगे।

दुविहा तेउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥१९॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, ऽणेगहा ते वियाहिया ।
इंगाल मुम्मुरं अगणी, अच्चिजाला तहेव य ॥२०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १०९]

तेजस्कायिक जीव दो प्रकार के हैं :—सूक्ष्म और बादर तथा उनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो भेद होते हैं।

जो बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीव हैं वे अनेक प्रकार के कहे गये हैं जैसे कि :—अंगारे चिनगारी अग्नि शिखा-(लौ) ज्वाला आदि।

विवेचन—यहाँ 'आदि' पद से उल्का विद्युत् तथा अग्निमय ऐसे अन्य पदार्थ भी समझने चाहिये। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव पृथ्वी-कायिक सूक्ष्म जैसे ही सूक्ष्म हैं और वे सकल लोक में व्याप्त हैं।

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥२१॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मंडलिया, घण-गुंजा-सुद्धवाया य ॥२२॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ११७-८]

वायुकायिक जीव दो प्रकार के हैं सूक्ष्म और बादर तथा उनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो भेद हैं।

जो बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव हैं वे पाँच प्रकार के कहे गये हैं। जैसे कि :—(१) उत्कलिका वायु, (२) मण्डलिका वायु, (३) घन वायु, (४) गुंजन वायु और (५) शुद्ध वायु।

विवेचन—सूक्ष्म-वायुकायिक जीव पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीव के समान ही सूक्ष्म हैं और वे समस्त लोक में व्याप्त हैं।

जो रुक-रुक कर फिर से बहने लगे, वह उत्कलिक वायु। जो चक्राकार घूमता जाये अर्थात् चक्रवात जैसा हो वह मण्डलिक वायु। जो वायु गाढ़—घना हो वह घन वायु। यह वायु संसार को स्थिर रखनेवाली घनोदधि का आधाररूप होता है। जो वायु गूँजता हुआ बहे वह गुञ्जा वायु और जिस वायु की मन्द-मन्द लहरियाँ बहती हैं वह शुद्ध वायु।

ओराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।
बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥२३॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १२६]

प्रधान त्रस जीव चार प्रकार के कहे गये हैं:—(१) दो इन्द्रिय वाले, (२) तीन इन्द्रियवाले (३) चार इन्द्रियवाले और (४) पाँच इन्द्रियवाले।

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥२४॥
किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥२५॥
पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा।
जलूगा जालगा चेव चंदणा य तहेव य ॥२६॥

इइ बेइंदिया एए, ऽणेगहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥२७॥
[उत्त० अ ३६, गा १२७ से १२९]

दो इन्द्रियोंवाले जीव दो प्रकार के होते हैं :—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनके भेद मेरे द्वारा सुनो—

कृमि (अशुचिमय पदार्थों में उत्पन्न होनेवाले) सुमंगल, अलसिया मातृवाहक (चन्दनजूरा) वासीमुख सिपकली शंख, कौड़ा पल्लुर अणुल्लक कोड़ी जलोका जालक चन्दनक (स्थापनाचार्य में रखा जाता है) आदि।

ये दो इन्द्रियवाले जीव अनेक प्रकार के हैं। ये सब लोक के एक भाग में स्थित कहे गये हैं न कि सर्वत्र।

विवेचन—जिन्हें सामान्यतया जन्तु अथवा कीड़े (Worms and Insects) कहते हैं, उनका समावेश, दो इन्द्रियवाले तीन इन्द्रियवाले और चतुरिन्द्रियवाले जीवों में होता है।

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥२८॥
कुंथु पिवीलिया उंसा, उक्कलुद्देहिया तहा ॥
तणहारकट्ठहारा य, मालुगा पत्तहारगा ॥२९॥
कप्पासट्ठिमिंजा य, तिंदुगा तउस मिंजगा ॥
सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया ॥३०॥

इंदगोवगमाईया, णेगहा एवमायओ ॥
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥२१॥

[उत्त अ ३६, गा १३९ से १३६]

तीन इन्द्रियवाले जीव दो प्रकार के कहे गये हैं :—पर्याप्त और अपर्याप्त । इनके भेद मेरे द्वारा सुनो ।

कुँथु, चींटी खटमल उत्तम उद्दई, तृणाहारक (घास में होनेवाले) काष्ठाहारक (लकड़ी में होनेवाली घुन) मालुका पत्राहारक (पत्तों में होनेवाले) कार्पासिक (कपास आदि में होनेवाले), अस्थिजात (गुठली-गुटके आदि में होनेवाले) तिन्दुक त्रपुष मिंजग, शतावरी गुल्मी इन्द्रकायिक आदि ।

इन्द्रगोप (गोकुलगाय) आदि तीन इन्द्रियवाले जीव अनेक प्रकार के हैं वे लोक के एक भाग में कहे गये हैं न कि सर्वत्र ।

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥२२॥
अंधिया पुत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीड-पयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥२३॥
कुक्कुडे सिंगिरीडी य, नंदावत्ते य विछिमे ।
डोले य भिंगिरीडी य, विरिली अच्छिवेहए ॥२४॥
अच्छिले माहए अच्छिरोडए विचित्तचित्तए ।
उहिंजलिया जलकारी य, नीनिया तंबगाइया ॥२५॥

इइ चउरिंदिया एए, ऽणेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥२६॥
[उत्त० अ ३६, गा १४९ से १५१]

चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के कहे गये हैं :—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनके भेद मुझसे सुनो ।

अन्धक पोतिक मक्षिका मशक भ्रमर, कीट, पतंग ढंकण, कुंकण कुक्कुट, सिंगरीटी नन्द्यावर्त बिच्छू डोल भृंगरीटक, अक्षिवेधक, अक्षिल मागध अक्षिरोडक, विचित्र चित्रपत्रक उपधि जलकारी नीचक तन्तव आदि को चार इन्द्रियवाले जीव माना है। ये सब लोक के एक भाग में स्थित हैं (न कि सर्वत्र)।

पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया ।
नेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥२७॥
[उत्त अ ३६, गा १५५]

जो जीव पचन्द्रिय हैं वे चार प्रकार के कहे गये हैं :—नारकीय, तिर्यञ्च मनुष्य और देव।

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभ—सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥२८॥
पंकाभा य धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥२९॥
[उत्त अ ३६, गा १५६-१५७]

नारकी-जीव सात प्रकार के हैं' क्योंकि नरक से सम्बद्ध पृथ्वियाँ सात प्रकार की हैं। वे इस प्रकार हैं :—(१) रत्नप्रभा (२) शर्कराप्रभा (३) वालुकाप्रभा (४) पङ्कप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा और (७) तमस्तमःप्रभा।

विवेचन—पहली नरक की अपेक्षा दूसरी नरक में और दूसरी नरक की अपेक्षा तीसरी नरक में इस प्रकार उत्तरोत्तर हर नरक में अधिक अन्धकार होता है। अबकि सातवीं नरक तमतमा नाम की है अतः वहाँ घोर अन्धकार होता है।

पंचिंदिय तिरिक्खा उ, दुविहा ते वियाहिया।
संमुच्छिम—तिरिक्खा उ, गम्भवक्कंतिया तहा ॥४ ॥
[उत्त० अ १६, गा १७०]

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के कहे गये हैं :—संमूर्च्छिम और गर्भोत्पन्न-गर्भज।

विवेचन—सम्मूर्च्छिम जीव मनःपर्याप्ति के अभाव में मूर्च्छित से रहते हैं। वे कुछ पदार्थों से उत्पन्न होते हैं अबकि गर्भोत्पन्न गर्भ से उत्पन्न होते हैं।

दुविहा वि ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा।
नहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥४१॥
[उत्त अ १६, गा १७१]

इन दोनों प्रकार के तिर्यञ्च जीवों के तीन भेद हैं :—(१) जलचर, (२) स्थलचर और (३) नभचर अर्थात् खेचर। इनके भेद मेरे द्वारा सुनो।

मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा ।
सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया ॥४२॥
[उत्त० अ० ३६, गा० १७२]

जलचर जीव पाँच प्रकार के कहे गये हैं :—(१) मत्स्य (मछलियों की जाति), (२) कच्छप (कछुए की जाति) (३) ग्राह (घड़ियाल की जाति) (४) मगर और (५) संसुमार (सूँस आदि की जाति)।

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउव्विहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥४३॥
[उत्त० अ० ३६, गा० १७९]

स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं :—चतुष्पद और परिसर्प। इनमें चतुष्पद चार प्रकार के हैं। इनके भेद मेरे द्वारा सुनो।

एगखुरा दुखुरा चेव, गण्डीपय सणप्पया ।
हयमाई गोणमाई, गयमाई सीहमाइणो ॥४४॥
[उत्त० अ० ३६ गा० १८०]

(१) एक खुरवाले—अश्व आदि। (२) दो खुरवाले—गाय आदि। (३) गण्डीपद—हाथी आदि और (४) सनखपद—सिंह आदि।

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे ।
गोहाई अहिमाई, इक्केका णेगविहा भवे ॥४५॥
[उत्त० अ० ३६, गा० १८१]

परिसर्प दो प्रकार के होते हैं :—(१) भुजपरिसर्प—गोह, गिरगिट आदि। और (२) उर-परिसर्प—सर्प अजगर आदि। ये प्रत्येक भी अनेक प्रकार के होते हैं।

चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया ।
विययपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ॥४६॥
[उत्त अ ३६, गा १८८]

खेचर अर्थात् पक्षी चार प्रकार के होते हैं :—(१) चर्मपक्षी—चमड़े की पंखवाले, चमगादड़ आदि। (२) रोमपक्षी—रोमवाले पंखवाले राजहंस आदि। (३) समुद्गपक्षी—डिब्बे जैसे पंखवाले और (४) विततपक्षी—जिनके पंख सदा खुले रहते हैं। ये दोनों मनुष्योत्तर पर्वत से बाहर होते हैं।

मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण ।
समुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ॥४७॥
[उत्त अ ३६ गा० १९५]

मनुष्य के दो भेद हैं, वे मेरे द्वारा सुनो :—सम्मूर्छिम और गर्भोत्पन्न।

विवेचन—मनुष्य के देश, रंग और जाति के अनुसार भेद होते हैं।

देवा चउव्विहा वुत्ता ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज—वाणमन्तर—जोइस—वेमाणिया तहा ॥४८॥
[उत्त अ ३६, गा २०३]

देव चार प्रकार के कहे गये हैं। उनके भेद मेरे द्वारा सुनो। (१) भुवनपति (२) वाणव्यन्तर (३) ज्योतिष और (४) वैमानिक।

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥४९॥
[उत्त अ ३६, गा २०४]

भवनवासी के दस प्रकार है वाणव्यन्तर अर्थात् वनचारी देवों के आठ प्रकार हैं ज्योतिषी देवों के पाँच प्रकार हैं और वैमानिक देवों के दो प्रकार।

असुरा नाग-सुवण्णा, विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि दिसा-वाया, थणिया भवणवासिणो ॥५०॥
[उत्त० अ० ३६, गा २०६]

भवनपति के दस प्रकार इस तरह समझने चाहिये :—(१) असुर कुमार (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४ विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, ६) द्वीपकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) दिशाकुमार, (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार।

पिसाय-भूया जक्खा य, रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गन्धव्वा, अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥५१॥
[उत्त० अ० ३६, गा २०७]

वाणव्यन्तर देवों के आठ भेद इस प्रकार बताये गये हैं :—(१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किम्पुरुष (७) महोरग और (८) गन्धर्व।

चन्दा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा।
ठिया विचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥५२॥
[उत्त० अ० ३६, गा २०८]

ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं :—(१) चन्द्र (२) सूर्य (३) नक्षत्र (४) ग्रह और (५) तारा। ये सब मनुष्यलोक में चर हैं

अर्थात् गतिमान् हैं और मनुष्यलोक के बाहर स्थिर हैं अर्थात् गति नहीं करते।

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥५३॥
[उत्त० अ० ३६, गा० २०९]

वैमानिक देव दो प्रकार के हैं :—(१) कल्पोत्पन्न और (२) कल्पातीत।

कप्पोवगा य बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमार-माहिंदा, बम्भलोगा य लंतगा ॥५४॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥५५॥
[उत्त० अ० ३६, गा० २१०-२११]

कल्पोत्पन्न वैमानिक देव बारह प्रकार के हैं :—(१) सौधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्म (६) लान्तक, (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत।

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥५६॥
[उत्त० अ० ३६, गा० २१२]

कल्पातीत देव दो प्रकार के बताये गये हैं :—(१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर।

विवेचन—ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं।

विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया।
सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा ॥४७॥

[उत्त० अ० ३६, गा २१५-२१६]

अनुत्तरविमानों के पाँच प्रकार हैं :—(१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध।

विवेचन—संसारीजीवों का यह स्वरूप जानने से जीव-सृष्टि कितनी व्यापक है और उसके कितने विभाग हैं आदि का बोध होता है। ठीक वैसे ही अहिंसा के पालनार्थ भी इसका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

धारा ४

कर्मवाद

ना इंदियगज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चा।
अज्झत्थहेउ निययस्स बंधो,
संसारहेउ च वयंति बंधं॥१॥

[उत्त० अ० १४ गा० १९]

आत्मा अमूर्त है अतः वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है मिथ्यात्व आदि कारणों से आत्मा को कर्मबन्धन होता है और कर्मबन्धन को ही संसार का कारण कहा जाता है।

विवेचन—जिसमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श हो वही वस्तु मूर्त हो सकती है परन्तु आत्मा में वर्ण, रस, गन्ध अथवा स्पर्श आदि नहीं है, इसलिये वह अमूर्त है और यही कारण है कि वह इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है। साथ ही अमूर्त वस्तु नित्य होती है जैसे कि आकाश। इस प्रकार आत्मा नित्य है। ऐसी अमूर्त और नित्य आत्मा को कर्मबन्धन होने का मूल कारण मिथ्यात्व अविरति

कषाय आदि दोष भी हैं। कर्म-फल भोगने के लिये आत्मा को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है इसलिए कर्मबन्धन ही संसारवृद्धि का कारण है।

सर्व प्रथम आत्मा कर्मरहित था और बाद में कर्मबन्धन हुआ ऐसा नहीं है। यदि हम यह मान लें कि शुद्ध आत्मा को भी कर्म का बन्धन होता है तो सिद्ध जीवों को भी कर्म-बन्धन का प्रसङ्ग आता है जो कदापि उचित नहीं है। अतः यह मानना ही उचित होगा कि आत्मा आरम्भ से ही कर्मयुक्त थी और कर्मबन्धन के कारण विद्यमान होने से वह कर्म बाँधती ही रही तथा उसका फल भोगती रही। सोना जब खदान में रहता है तब मिट्टी से युक्त रहता है। अर्थात् खदान में सोना और मिट्टी दोनों का मिश्रण होता है। बाद में उस पर रासायनिक प्रक्रिया होने से मिट्टी पृथक् हो जाती है और शुद्ध सोना पृथक् निकल आता है ठीक यही बात आत्मा के बारे में भी समझनी चाहिए। संयम तप आदि रासायनिक क्रिया के कर्मकलाप से आत्मा पर लिपटे हुए कर्मावरण दूर हो जाते हैं और उसका शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥२॥

(उत्त अ ३३ गा १८)

सभी जीव अपने आसपास छहों दिशाओं में स्थित कर्मपुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्वप्रदेशों के साथ सर्वकर्मों का सर्वप्रकार से बन्धन हो जाता है।

विवेचन—कर्मरूप में परिणत होने योग्य पुद्गल को एक प्रकार की वर्गणा को कार्मण-वर्गणा अथवा कर्मपुद्गल कहा जाता है। पुद्गल की वर्गणाएँ अनेक प्रकार की होती हैं उनमें औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस भाषा श्वासोच्छ्वास मन और कार्मण—इन नामों वाली ८ अयोग्य + ८ योग्य की सोलह वर्गणाएँ विशेषतः समझने योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१ : औदारिक शरीर के लिये नहीं ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

२ : औदारिक शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

३ : औदारिक—वैक्रिय शरीर के लिये नहीं ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

४ : वैक्रिय शरीर के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

५ : वैक्रिय—आहारक शरीर के लिये नहीं ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

६ : आहारक—शरीर के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

७ : आहारक—तैजस शरीर के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

८ : तैजस शरीर के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

९ : तैजस शरीर और भाषा के लिये ग्रहण नहीं करने योग्य महावर्गणा।

१ : भाषा के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

११ : भाषा और श्वासोच्छ्वास के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

१२ : श्वासोच्छ्वास के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

१३ श्वासोच्छ्वास और मन के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

१४ : मन के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

१५ : मन और कर्म के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

१६ : कर्म के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

इस सोलहवी वर्गणा को ही कार्मण-वर्गणा कहा जाता है।

ये कार्मण-वर्गणाएं पूर्व पश्चिम उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः आदि छहों दिशाओं में सर्वत्र व्याप्त रहती है। इन्हीं में से आत्मा उपयुक्त वर्गणाओं को ग्रहण कर लेती है और वह आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ सर्वप्रकार से अर्थात् प्रकृति से स्थिति से रस से और प्रदेश से इस तरह चारों प्रकार से बंध जाती है। *यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि आत्म-प्रदेशों के केन्द्र में जो आठ रुचक-प्रदेश होते हैं, वे सदा निर्मल होते हैं। उन्हें किसी प्रकार के कर्म का बन्धन नहीं होता।*

नमिय जगई पुढो जगा,
कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहई
णो तस्स मुच्चेज्ज-पुट्ठयं ॥२॥

[सू० श्रु० १, अ० २ उ० १ गा० ४]

इस भूतकाल जितने भी प्राणी है, वे सब अपने-अपने संचित कर्मों के कारण ही संसार में परिभ्रमण करते रहते है और स्वकृत

कर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों में पैदा होते हैं। उपार्जित कर्मों का फल भोगे बिना प्राणी मात्र का छुटकारा नहीं होता।

विवेचन—जीव के उत्पत्ति-स्थान को योनि कहते हैं। योनियों की संख्या ८४ लाख इस प्रकार मानी जाती है :—

पृथ्वीकाय की योनि	७ लाख
अप्काय की ,,	७ लाख
तेजस्काय की	७ लाख
वायुकाय की ,,	७ लाख
प्रत्येक वनस्पतिकाय की	१० लाख
साधारण	१४ लाख
दो इन्द्रियवाले जीवों की	२ लाख
तीन इन्द्रियवाले जीवों की	२ लाख
चार इन्द्रियवाले जीवों की	२ लाख
देवताओं की	४ लाख
नारकीयों की	४ लाख
तिर्यंच पञ्चेन्द्रियों की	४ लाख
मनुष्यों की	१४ लाख
	८४ लाख

ये योनियाँ प्रधान रूप से नौ प्रकार की हैं :—(१) सचित्त (२) अचित्त (३) सचित्ताचित्त, (४) शीत, (५) उष्ण (६) शीतोष्ण (७) संवृत (८) विवृत और (९) संवृत-विवृत। इनमें जो जीवप्रदेश वाली योनि है वह सचित्त जीवप्रदेश से रहित है वह अचित्त,

जैसे चोर सेंध के मुखभाग पर ही पकड़ा जाता और वह पापकारी अपने कर्म से मारा जाता ठीक वैसे ही पाप करनेवाली आत्मा को भी इस लोक में अथवा परलोक में किये कर्म का फल भोगना पड़ता है। जो कर्म एक बार बांध लिये हैं वे सतत प्रयत्न के बावजूद भी छूट नहीं सकते।

विवेचन—एक बड़ा महल था। उस पर पहरा अत्यन्त कठिन था तथापि एक चोर उस पर चढ़ गया। उसने वहाँ सेंध लगाई और धन लेकर चम्पत हो गया। दूसरे दिन प्रातः जनता वहाँ इकट्ठी हुई और कहने लगी कि 'अहो! यह तो कोई विचित्र चोर लगता है। न जाने वह इस महल पर किस प्रकार चढ़ा होगा और इतने छोटे से सेंध में से भीतर जाकर किस तरह चोरी कर ली वो ध्यान ही गया होगा? इस प्रकार जनता को अपनी प्रशंसा करते हुए सुनकर चोर प्रसन्न हो उठा और उसी स्थान पर खड़ा रह कर उल्लसित नयनों से सेंध के स्थान को देखने लगा तथा जी भर कर उसकी प्रशंसा करने लगा। पहरेदारों ने समझ लिया कि यही चोर है। शीघ्र ही उसे गिरफ्तार कर राजा के समक्ष प्रस्तुत करने पर उसको फांसी की सजा हुई। इस तरह चोर को अपने किये हुए कर्म का फल मिला। वैसे ही प्राणियों को भी अपने किये हुए कर्मों का फल मिलता है। कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं।

तम्हा एए सि कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहा ॥८॥
[उत्त० अ० ३३ गा० १५]

राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं। ज्ञानियों का कथन है कि कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। इस जन्म-मरण को ही दुःख कहा जाता है।

सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥१२॥

[दशाश्रुत अ० ५ गा० १४]

जैसे वृक्ष की जड़ सूख जाने पर उसे कितना ही सींचा जाय, वह हरा नहीं होता। वैसे ही मोहनीय कर्म का क्षय होने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते।

जहा दड्ढाण बीयाणं, ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥१३॥

[दशाश्रुत अ० ५ गा० १५]

जैसे दग्ध (भुने हुए) बीजों में से पुनः अङ्कुर प्रकट नहीं होते वैसे ही कर्मरूपी बीजों के दग्ध हो जाने पर—जल जाने पर उनमें से भी भवरूपी अङ्कुर प्रकट नहीं होते।

जह जीवा बज्झंति मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति जह दुक्खाणं अंतं करेंति केइ अपडिबद्धा ॥ १४ ॥

[औप० सू० ३४]

जिस तरह जीव कर्म-बन्धन में फँस जाते हैं वैसे ही मुक्त भी होते हैं और जैसे कर्म के संचय से असह्य कष्टों का सामना करता

जाती है, और डूबने लगती है, ठीक वैसे ही हिंसा असत्य चोरी व्यभिचार तथा मूर्च्छा-मोह इत्यादि आश्रवरूपी कर्म करने से आत्मा पर कर्मरूपी मिट्टी की तहें जम जाती हैं और वह भारी बन अधोगति को प्राप्त हो जाती है। यदि तुम्बी के ऊपर की मिट्टी की तहें हटा दी जायें तो वह हल्की होने के कारण पानी पर आजाती है और तैरने लगती है वैसे ही यह आत्मा भी जब कर्म-बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है तब ऊर्ध्वगति प्राप्त करके लोकाग्र-भाग पर पहुँच जाती है और वहाँ स्थिर हो जाती है।

पड़ता है वैसे ही दुष्ट कर्म से रहित होने पर सर्व दुःखों का अन्त हो जाता है।

जह अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्ख सागरमुवेंति जह
वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्ग विहाडेंति ॥१५॥

[औप० सू० ३४]

जैसे आर्त्त-रौद्र ध्यान से चिन्ता-चित्तवाले जीव दुःखसागर को प्राप्त होते हैं वैसे ही वैराग्यप्राप्त जीव कर्म-समूह को नष्ट कर डालते हैं।

जह रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो
जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥१६॥

[औप० सू० ३५]

जैसे राग (द्वेष) द्वारा उपार्जित कर्मों का फल अनुचित होता है वैसे ही सब कर्मों के क्षय से जीव सिद्ध होकर सिद्धलोक मे पहुँचता है।

जह मिउलेवालित्त गरुय तुंबं अहो वयइ एवं।
आसवकयकम्मगुरु, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१७॥
त चेव तव्विमुक्कं जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥१८॥

[ज्ञाताधर्म० अ० ६]

जिस प्रकार तुम्बी पर मिट्टी की तहें जमाने से वह भारी हो

कर्म के कुल आठ प्रकार हैं ज्ञानावरणीयादि। जिस कर्म के कारण आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण छा जाता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। यह कर्म आँख की पट्टी के समान होता है। आँख में देखने की शक्ति रहने पर भी पट्टी रहने के कारण वह बराबर देख नहीं सकती वैसे ही आत्मा अनन्त ज्ञानशाली होने पर भी ज्ञानावरणीय-कर्म के कारण बराबर जान नहीं पाती।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण छा जाय उसे दर्शनावरणीय-कर्म कहते हैं। इसका कार्य राजा के प्रतिहारी जैसा होता है। जैसे प्रतिहारी राजा के दर्शन करने पर रोक लगाता है वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को वस्तुस्वरूप के दर्शन से रोकती है।

जिस कर्म से आत्मा को साता (सुख) और असाता (दुःख) का अनुभव हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यह कर्म शहद से लिपटी हुई तलवार की धार जैसा है। शहद लिपटी तलवार की धार चाटने पर जैसी साता उत्पन्न होती है—सुख मिलता है वैसे ही जीभ कट जाने पर असाता उत्पन्न होती है अत्यन्त पीड़ा होती है। यही बात आत्मा के विषय में है। आत्मा मूलस्वरूप में आनन्दघन होते हुए भी वेदनीय-कर्म के कारण वह कृत्रिम सुख-दुःखों का लगातार अनुभव करती रहती है।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा के सम्यक् श्रद्धान और सम्यक् चारित्र-रूपी गुणों का अवरोध होता है उसको मोहनीय-कर्म कहते हैं। यह कर्म मदिरापान के समान है। मदिरापान करने से मनुष्य में

धारा ५

कर्म के प्रकार

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्वि जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवत्तई ॥ १ ॥
नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ २ ॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥

मैं आठ कर्मों का स्वरूप यथाक्रम कहता हूँ जिनसे बद्ध यह जीव संसार में विविध पर्यायों का अनुभव करता हुआ निरंतर परिभ्रमण करता रहता है।

(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम (७) गोत्र और (८) अंतराय।

विवेचन—आत्मा मिथ्यात्व अविरति आदि दोषों के कारण कार्मण वर्गणाओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है और जब ये कार्मण वर्गणाएँ आत्मप्रदेश के साथ मिल जाती हैं तब उसे 'कर्म' संज्ञा प्राप्त होती है। कर्म का मुख्य कार्य आत्मा की शक्तियों पर आवरण डालना है। अतः इसे आत्मा का विरोधी तत्त्व माना जाता है।

के कारण आत्मा को दान लाभ भोग, उपभोग और वीर्यरूप लब्धि का पूर्णरूपेण विकास नहीं होता।

मूलभूत स्वरूप में जगत् के सभी जीव समान होने पर भी उनकी अवस्थाओं मे जो विविधता और विभिन्नता दीख पड़ती है उसके मूल मे कर्म के उक्त प्रकार ही हैं।

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार के हैं :—(१) श्रुतज्ञानावरणीय (२) मतिज्ञानावरणीय (३) अवधिज्ञानावरणीय (४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय तथा (५) केवलज्ञानावरणीय।

विवेचन—ज्ञान के पाँच प्रकार हैं :—(१) आभिनिबोधिक अथवा मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यय ज्ञान और (५) केवलज्ञान। इन पाँचों ज्ञानों को अवरुद्ध करनेवाले अलग-अलग कर्म होते हैं इसलिये ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच प्रकार माने गये हैं। यहाँ श्रुतज्ञानावरणीय कर्म प्रथम और मतिज्ञानावरणीय कर्म दूसरा कहा है किन्तु ज्ञान के क्रमानुसार मतिज्ञानावरणीय पहला और श्रुतज्ञानावरणीय दूसरा समझना चाहिये।

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥६॥

मानसिक विकार उत्पन्न होता है वैसे ही मोहनीय-कर्म के कारण आत्मा की निर्मल श्रद्धा का विसर्जन हो जाता है और शुद्ध चारित्र मे विकृति उत्पन्न होती है।

जिस कर्म के फलस्वरूप आत्मा को एक शरीर में निश्चित समय तक रहना पड़े उसे आयुकर्म कहते है। यह कर्म बेड़ी जैसा है। जैसे बेड़ी मे जकड़ा हुआ मनुष्य उसकी अवधि पूरी होने से पूर्व मुक्त नहीं हो सकता वैसे ही आयुकर्म के कारण आत्मा उसकी निश्चित अवधि को पूर्ण किये बिना धारण की हुई देह से मुक्त नहीं हो सकता।

जिस कर्म के परिणामस्वरूप आत्मा मूर्तावस्था को प्राप्त हो तथा शुभाशुभ शरीर को धारण करे उसे नामकर्म कहते है। यह कर्म चित्रकार जैसा है। चित्रकार जैसे विविध रंगो से चित्रों का निर्माण करता है, वैसे ही नामकर्म आत्मा के लिये धारण करने योग्य ऐसे अच्छे-बुरे भिन्न-भिन्न रूप, रंग आकार यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि का निर्माण करता है।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा को उच्च-नीचावस्था प्राप्त हो उसे गोत्र-कर्म कहते है। यह कर्म कुम्हार जैसा है। कुम्हार जैसे मिट्टी के पिंड से छोटे और बड़े पात्र बनाता है, वैसे ही इस कर्म के द्वारा जीव को उच्चकुल मे अथवा नीचकुल मे जन्म धारण करना पड़ता है।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा की लब्धि—(शक्ति) मे विघ्न उपस्थित हो उसे अन्तरायकर्म कहते है। यह कर्म राजा के भण्डारी जैसा है। राजा की आज्ञा मिल चुकने पर भी जैसे भण्डारी के दिये बिना भण्डार में रही सामग्री प्राप्त नहीं होती वैसे ही अन्तराय कर्म

बोध को रोके वह मनःपर्यवज्ञानावरणीय और (५) जो केवलज्ञान द्वारा होनेवाले वस्तुमात्र के सामान्य बोध को रोके वह केवलदर्शनावरणीय।

वेयणियं पि दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥७॥

वेदनीय कर्म दो प्रकार के कहे गये हैं :—(१) सातावेदनीय और असातावेदनीय। इन दोनों के अवान्तर भेद अनेक हैं।

विवेचन—जिसके द्वारा शारीरिक तथा मानसिक सुखशान्ति का अनुभव हो वह 'सातावेदनीय' और दुःख तथा अशान्ति का अनुभव हो वह 'असातावेदनीय' कर्म कहलाता है।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥

मोहनीय कर्म भी दो प्रकार के हैं :—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। इनमें दर्शनमोहनीय-कर्म तीन प्रकार का और चारित्रमोहनीय-कर्म दो प्रकार का कहा गया है।

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥

(१) सम्यक्त्वमोहनीय (२) मिथ्यात्वमोहनीय और (३) मिश्रमोहनीय। इस प्रकार दर्शनमोहनीय-कर्म की तीन उत्तरप्रकृतियाँ हैं।

विवेचन—आत्मा अपने अध्यवसाय के बल पर मिथ्यात्व के पुद्गलों को शुद्ध करे और उनमें से मिथ्यात्वकारी मल निकल जाए, उसे

निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि (थीणद्धी) इस तरह निद्रा के पाँच प्रकार हैं।

इसके अतिरिक्त चक्षुदर्शनावरणीय अचक्षुदर्शनावरणीय अवधिदर्शनावरणीय तथा केवलदर्शनावरणीय इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के अन्य और चार प्रकार हैं। अतः दर्शनावरणीय कर्म के कुल नौ प्रकार समझने चाहिये।

विवेचन—निद्रा दर्शनशक्ति का अवरोध करनेवाली होने से उसकी गणना दर्शनावरणीय कर्म में होती है। (१) सुखपूर्वक अर्थात् अल्प मात्र से जगा सके ऐसी निद्रा 'निद्रा' कहलाती है। (२) दुःखपूर्वक अर्थात् बहुत झकझोरने से जगाया जा सके ऐसी निद्रा 'निद्रानिद्रा' कहलाती है। (३-४) बैठे-बैठे अथवा खड़े-खड़े ही निद्रा आ जाय लेकिन उसमें से सुखपूर्वक जगाया जा सके ऐसी निद्रा को 'प्रचला' और दुःखपूर्वक जगाया जा सके उसे 'प्रचला-प्रचला' कहते हैं। (५) जिसमें दिन में चिन्तित कार्य कर लिया जाय और कुछ पता ही न लगे, ऐसी गाढ़ निद्रा को 'स्त्यानर्द्धि' अथवा 'थीणद्धी' निद्रा कहते हैं। इस निद्रा में मनुष्य का बल असाधारण रूप में बढ़ जाता है। विज्ञान ने भी ऐसी निद्रा की सूचना दी है और इससे सम्बद्ध अनेक उदाहरणों का संग्रह किया है।

(६) जो चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होनेवाले सामान्य बोध को रोक दे वह चक्षुदर्शनावरणीय, (७) जो चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों तथा पाँचवें मन के द्वारा होते हुए सामान्य बोध को रोके वह अचक्षुदर्शनावरणीय (८) जो आत्मा को होनेवाले रूपी द्रव्य के सामान्य

चारित्रमोहनीय-कर्म दो प्रकार का कहा गया है —(१) कषाय-मोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय।

सोलसविहभेएण, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

कषायमोहनीय-कर्म के सोलह प्रकार हैं और नोकषायमोहनीय-कर्म के सात अथवा नौ प्रकार हैं।

विवेचन—जीव के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करनेवाला तत्त्व कषाय कहलाता है अथवा जो अनेक प्रकार के सुख और दुःख के सत्कर्मोत्पन्न कर्मक्षेत्र का कर्षण करता है—वह कषाय कहलाता है। अथवा जिससे कष यानी संसार का आय यानी लाभ हो अर्थात् संसार की वृद्धि हो वह कषाय कहलाता है। कषाय के मुख्य चार प्रकार हैं : (१) क्रोध (२) मान (अभिमान) (३) माया (कपट), तथा (४) लोभ (तृष्णा)। इन प्रत्येक के तरतमता के अनुसार (१) अनन्तानुबन्धी (२) प्रत्याख्यानी (३) अप्रत्याख्यानी तथा (४) संज्वलन ऐसे चार-चार भेद हैं। इस तरह कषाय के कुल सोलह प्रकार होते हैं।

अनन्तानुबन्धी कषाय अत्यन्त तीव्र होते हैं। प्रत्याख्यानी कषाय केवल तीव्र होते हैं जबकि अप्रत्याख्यानी कषाय मन्द होते हैं और संज्वलन कषाय अति मन्द।

कषाय की तरतमता को समझने के लिये जैन शास्त्रों में निम्न दृष्टान्त दिये गये हैं—

सम्यक्त्वमोहनीय कर्म कहते हैं। इस कर्म का उदय होने से जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो होती है परन्तु जब तक वह अस्तित्व में रहता है तब तक मोक्ष की एक शुद्ध अवस्थास्वरूप क्षायिक सम्यक्त्व को रोकता है।

जिससे आत्मा मिथ्यात्व में आसक्त हो जाय वह मिथ्यात्व-मोहनीय-कर्म कहलाता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व को अतत्त्व और अज्ञकथित तत्त्व को तत्त्व मानता है, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानता है। और इसीलिये वह तत्त्व का—सत्य का आग्रह न रखते हुए अरुचि रखता है। जो अतत्त्व का—असत्य का आग्रह रखता है वह सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वह अन्य प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति भला कैसे कर सकता है।

जिससे न मिथ्यात्व और न सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्व के प्रति रुचि भी नहीं और अरुचि भी नहीं—(कुछ मिथ्यात्व चला जाय और कुछ शेष रहे) उसे मिश्रमोहनीय-कर्म कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार के कर्मोदय के समय जीव तत्त्व और अतत्त्व सत्य और असत्य दोनों के प्रति समान वृत्ति धारण करता है। फलतः सत्य के लिए आस्था नहीं बन सकता—यह स्थिति भी आध्यात्मिक प्रगति के लिये उतनी ही बाधक है।

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

माया

अनन्तानुबन्धी—बाँस के कठोर जड़ जैसी जो किसी प्रकार अपनी वक्रता को नहीं छोड़ती।

अप्रत्याख्यानी—मेंढ़े के सींग जैसी जो बड़े प्रयत्न से अपना वक्रत्व छोड़ती है।

प्रत्याख्यानी—बैल के मूत्र की धारा जैसी जो वायु के झोंके से दूर हो जाय।

संज्वलन—बाँस की छीलन के समान।

लोभ

अनन्तानुबन्धी—किरमच के रंग जैसा, जो एक बार चढ़ने पर उतर नहीं जाता।

अप्रत्याख्यानी—गाड़ी के कीट जैसा जो एक बार वस्त्र को गन्दा कर देने पर बहुत प्रयत्न से मिटता है।

प्रत्याख्यानी—कीचड़ जैसा कि जो कपड़ों पर पड़ जाने पर सामान्य प्रयत्न से दूर हो जाता है।

संज्वलन—हल्दी के रंग जैसा जो सूर्य की धूप लगते ही दूर हो जाय।

नोकषाय के सात प्रकार होते हैं:—(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) भय, (५) शोक (६) जुगुप्सा और (७) वेद (कामीय संज्ञा—Sexual instinct)।

यदि वेद के स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद आदि तीन प्रकार मान लें तो हास्यादि छह और तीन वेद मिलकर नौ प्रकार हो जाते हैं।

क्रोध

अनन्तानुबन्धी—पर्वत में पड़ी हुई दरार के समान। जिस तरह पर्वत में पड़ी दरार पुनः जुड़ती नहीं वैसे ही इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न होने पर जीवन भर शान्त होता नहीं।

अप्रत्याख्यानी—पृथ्वी में पड़ी हुई दरार के समान। जैसे पृथ्वी में पड़ी हुई दरार वर्षा आने पर पट जाती है ठीक वैसे ही इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न हुआ हो तो अधिक से अधिक एक वर्ष में शान्त हो जाता है।

प्रत्याख्यानी—रेती में खींची हुई रेखा के समान। रेती में खींची हुई रेखा वायु का झोंका आने पर मिट जाती है इसी तरह ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो तो अधिक से अधिक एक मास में शान्त हो जाता है।

संज्वलन—पानी में खींची गई रेखा के समान। पानी में खींची गई रेखा जैसे शीघ्र नष्ट हो जाती है वैसे ही इस तरह का क्रोध उत्पन्न हुआ हो तो अधिक से अधिक पन्द्रह दिन में शान्त हो जाता है।

मान

अनन्तानुबन्धी—पत्थर के खम्भे के समान जो किसी प्रकार झुकता ही नहीं।

अप्रत्याख्यानी—हड्डी के समान जो अत्यन्त कष्ट से झुकता है।

प्रत्याख्यानी—काष्ठ के समान, जो उपाय करने पर झुकता है।

संज्वलन—बेंत की लकड़ी के समान जो सरलता से झुक जाता है।

गोयकम्म तु दुविहं, उच्च नीयं च आहियं ।
उच्च अट्ठविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं ॥१४॥

गोत्रकर्म दो प्रकार का होता है—(१) उच्च और (२) नीच। इन दोनों के आठ-आठ और प्रकार कहे गये हैं।

विवेचन—उच्च गोत्रकर्म के आठ प्रकार इस तरह समझना चाहिये :—(१) उच्च जाति में उत्पन्न होना (२) उच्च कुल में उत्पन्न होना (३) बलवान् बनना (४) सौन्दर्यशाली होना, (५) तपस्वी बनना, (६) यथेष्ठ अर्थप्राप्ति होना (७) विद्वान् बनना और (८) सम्पत्तिशाली बनना। जबकि नीचगोत्रकर्म के आठ प्रकार इनसे विपरीत समझना चाहिए।

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥१५॥

[उत्त० अ० ३३ गा० १ से १५]

अन्तराय कर्म को संक्षेप में पाँच प्रकार का कहा गया है—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

विवेचन— दान देने की वस्तु विद्यमान रहने पर तथा उसके देने से होनेवाले लाभों का ज्ञान होते हुए भी, जिसके कारण दान नहीं दिया जा सके वह दानान्तराय-कर्म कहलाता है। इसी तरह प्रयत्न करने पर भी जिस कारण किसी वस्तु का लाभ न हो उसे लाभान्तराय कर्म कहते हैं। खान-पानादि सभी सामग्रियों के विद्यमान होने पर

नेरइयातिरिक्खाउं मणुस्साउं तहेव य।
देवाउअं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

आयुकर्म के चार प्रकार हैं—(१) नरकायु, (२) तीर्यंचायु, (३) मनुष्यायु और (४) देवायु।

विवेचन—जीव को जिसके कारण नरकयोनि में रहना पड़े, वह नरकायु, तिर्यंच योनि मे रहना पड़े वह तिर्यंचायु, मनुष्य योनि में रहना पड़े वह मनुष्यायु और देवयोनि मे रहना पड़े वह देवायु।

नामकम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

नामकर्म दो प्रकार का कहा गया है—(१) शुभ और (२) अशुभ। *शुभ नाम-कर्म* के अनेक भेद हैं और *अशुभ नाम-कर्म* के भी अनेक भेद हैं।

विवेचन—जिसके योग से जीव को मनुष्य और देव की गति सुन्दर अङ्ग-उपाङ्ग अच्छा स्वरूप वचन की मधुरता, लोकप्रियता यशस्विता आदि प्राप्त हों, वह शुभ नामकर्म कहा जाता है। और नरक तथा तिर्यंच की गति, बेडोल अङ्ग-उपाङ्ग कुरूपता वचन की कठोरता अप्रियता अपयश आदि प्राप्त हों वह अशुभ नामकर्म कहा जाता है।

शुभ नाम-कर्म के अनन्त भेद हैं किन्तु मध्यम अपेक्षा से ३७ भेद माने जाते हैं और अशुभ नाम-कर्म के भी अनन्त भेद हैं किन्तु मध्यम अपेक्षा से ३४ भेद माने जाते हैं। इनका विस्तार कर्मग्रन्थों से जानना।

जघन्य अर्थात् कम से कम और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक कितना प्रमाण होता है इसी बात का यहाँ स्पष्टीकरण किया गया है। नौ समय से लेकर दो घड़ी में एक समय न्यून को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

> उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
> मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८॥
> तित्तीस सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया ।
> ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्त जहण्णिया ॥१९॥
> उदहीसरिसनामाणं वीसई कोडिकोडिओ ।
> नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया ॥२०॥
>
> [उत्त अ ३३ गा २१-२२-२३]

मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट-स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है।

भी किस वस्तु उसका खाने-पीने मे उपयोग न किया जा सके और कदाचित् खा पी सके तो उसका पाचन न हो सके वह भोगान्तराय कर्म। जो एक बार ही काम में आये उसे भोग्य पदार्थ कहते हैं जैसे भोजन पानी आदि। जो बार-बार उपयोग में लिया जा सके उसे उपभोग्य कहते हैं, जैसे वस्त्र आभूषण आदि। जिसके कारण उपभोग की सामग्री जब चाहिए तब और जितने प्रमाण मे चाहिए उतने प्रमाण मे उपलब्ध रहते हुए भी उपयोग में न आ सके, वह उपभोगान्तराय कर्म। और जिसके उदय मात्र से स्वयं युवा और बलवान् होने पर भी कोई कार्य सिद्ध न कर सके वह वीर्यान्तराय-कर्म कहलाता है।

> उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
> उक्कोसिया ठिई होई, अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥१६॥
> आवरणिज्जाण दुण्ह पि, वेयणिज्जे तहेव य।
> अन्तराए य कम्ममि, ठिई एसा वियाहिया ॥१७॥
> [उत्त० अ० ३३, गा १६-२]

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय तथा अन्तराय इन चार कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा कोडी सागरोपम की होती है।

विवेचन—जब आत्मप्रदेशों के साथ कर्म का बन्धन होता है तभी उसकी स्थिति अर्थात् टिकने का समय भी निश्चित हो जाता है। अतः वे इतने समय तक आत्मा के साथ बने रहते हैं। उसका

जघन्य अर्थात् कम से कम और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक कितना प्रमाण होता है इसी भाव का यहाँ स्पष्टीकरण किया गया है। नौ समय से लेकर दो घड़ी में एक समय न्यून को अन्तमुहूर्त कहते हैं।

उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८॥
तित्तीसं सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्त जहण्णिया ॥१९॥
उदहीसरिसनामाणं वीसई कोडिकोडिओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया ॥२०॥
[उत्त अ ३३ गा २१-२२-२३]

मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की होती है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की होती है। नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट-स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है।

पाठ ५

दुर्लभ संयोग

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

इस संसार में प्राणी मात्र को मनुष्यजन्म, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम की प्रवृत्ति जैसे चार उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

समावन्नाण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥२॥

संसार में भिन्न भिन्न गोत्र और जाति में पैदा हुए जीव विविध कर्म करके संसार में भिन्न भिन्न स्वरूप में उत्पन्न होते हैं।

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छई ॥३॥

अपने कर्म के अनुसार यह जीव किसी समय देवलोक में किसी समय नरक में तो किसी समय असुरकाय में (भवनपति इत्यादि में) उत्पन्न होता है।

एगया खत्तिओ होई, तओ चण्डाल बुक्कसो ।
तओ कीड—पयंगो य, तओ कुंथू—पिवीलिया ॥४॥

जीव किसी समय क्षत्रिय किसी समय चाण्डाल किसी समय बुक्कस, (वर्णसंकर जाति), किसी समय कीट, किसी समय पतंग, किसी समय कंथू और किसी समय चींटी भी बनता है ।

एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा ।
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

सर्वप्रकार की ऋद्धि-वैभव होने पर भी जिस तरह क्षत्रियों की राज्यतृष्णा शान्त नहीं होती ठीक उसी तरह कर्मरूपी मैल से लिपटे जीव भी अनेकविध योनियों में परिभ्रमण करने के बावजूद भी विरक्त नहीं होते ।

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

कर्म के सम्बन्ध से मूढ़ बने हुए प्राणी असह्य वेदनाएं प्राप्त कर तथा दुःखी होकर मनुष्ययोनि के अतिरिक्त दूसरी योनियों में जन्म धारण कर बार-बार हना जाता है ।

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥७॥

अथवा अर्थात् एक योनि में से दूसरी योनि में भटकते हुए, जो गई अकामनिर्जरा के कारण कर्मों का भार हल्का हो जाने

से जीव-शुद्धि को पाता है और किसी समय मनुष्ययोनि में जन्म धारण करता है।

विवेचन—अज्ञान अथवा मूढ़ दशा में दुःख सहन करते हुए कर्मों की जो निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा कहलाती है।

मानव-जन्म की दुर्लभता समझने के लिये श्रीभद्रबाहुस्वामी ने भी उत्तराध्ययन-सूत्र की निर्युक्ति में निम्नलिखित दस दृष्टान्त दिये हैं :—

(१) *चूल्हे का दृष्टान्त*—चक्रवर्ती राजा छह खण्ड पृथ्वी का अधिपति होता है। उसके राज्य में कितने चूल्हे होते हैं? प्रथम चक्रवर्ती के चूल्हे पर भोजन हो और बाद में प्रत्येक चूल्हे पर भोजन करना हो तो चक्रवर्ती के चूल्हे पर भला पुनः भोजन का कब अवसर आवे?

(२) *पासों का दृष्टान्त*—किसी खेल में मन्त्रमय पासों का उपयोग करके किसी का सारा धन जीत लिया गया हो और उस पराजित मनुष्य को उस खेल से फिर अपना धन प्राप्त करना हो, तो भला कब तक प्राप्त हो?

(३) *धान्य का दृष्टान्त*—लाखों मन धान्य के ढेर में यदि सरसों के थोड़े दाने मिला दिये हों और उन्हें वापस निकालने का प्रयत्न किया जाय तो भला कब मिल सकते हैं?

(४) *द्यूत-क्रीड़ा का दृष्टान्त*—किसी राजमहल के १०८ स्तम्भ हों और उनमें से प्रत्येक स्तम्भ के १०८ विभाग हों तथा उक्त प्रत्येक विभाग को जुए में जीतने पर ही राज्य मिलता हो तो भला वह राज्य कब मिल सकेगा?

(५) रत्न का दृष्टान्त—सागर में प्रवास करते समय पास में रहे रत्न अगाध जल मे डूब जायें तो भला खोज करने के बावजूद भी वे रत्न कब तक मिल सकेंगे ?

(६) स्वप्न का दृष्टान्त—राज्य की प्राप्ति करानेवाला शुभ स्वप्न देखा हो और उससे राज्य की प्राप्ति भी हो गई हो। यदि ऐसा ही स्वप्न पुनः लाने के लिये कोई प्रयत्न करे, तो भला ऐसा स्वप्न पुनः कब आ सकता है ?

(७) चक्र का दृष्टान्त—चक्र अर्थात् राधावेध। खम्भे के ऊँचे सिरे पर मन्त्र-प्रयोग से चक्राकार में एक पुतली घूमती हो उसका नाम राधा। स्तम्भ के नीचे तेल की कड़ाई उबलती हो, स्तम्भ के मध्य भाग मे एक तराजू फिट किया गया हो और उसमें खड़े रहकर नीचे की कड़ाई में पड़ रहा राधा के प्रतिबिम्ब के आधार पर बाण मारकर उसकी बाईं आँख बींधना हो तो भला कब बींध सकता है।

(८) चर्म का दृष्टान्त—यहाँ चर्म शब्द का अर्थ चमड़े जैसी मोटी सरोवर के ऊपर की शैवाल है। किसी पूर्णिमा की रात्रि मे वायु के तेज झोंका से शैवाल जरा इधर-उधर हो जाय फलस्वरूप उसके नीचे छिपा हुआ कोई कछुआ चन्द्रमा के दर्शन कर ले और यदि वह पुनः वैसा ही चन्द्र-दर्शन अपने सगे-सम्बन्धियों को कराना चाहे तो भला कब करवा सकता है ? वायु के झोंकों से उसी स्थान पर शैवाल का इधर-उधर खिसकना और वैसे ही पूर्णिमा की रात्रि का होना यह सब कितना दुर्लभ है ?

(९) युग का दृष्टान्त—युग अर्थात् धुरा-जूआ। बैल के कन्धे पर उसे बराबर टिकने के लिये लकड़ी के एक छोटे डण्डे का उपयोग किया जाता है। यदि वह जूआ महासागर के एक छोर से पानी में डाली गई हो और दूसरे छोर से लकड़ी तो क्या उस जूए पर वह लकड़ी कब बैठ सकेगी?

(१०) परमाणु का दृष्टान्त—एक स्तम्भ का अत्यन्त महीन चूर्ण करके फूँकनी मे भर लिया हो और किसी पर्वत के शिखर पर खड़ा होकर फूँक द्वारा उसे हवा मे उड़ा दिया जाय तो क्या उस चूर्ण के सभी परमाणु पुनः कब एकत्र हो सकते हैं?

यदि इन सभी प्रश्नों का उत्तर 'बहुत समय और बहुत कष्ट के बाद' यही है तो मनुष्यजन्म भी दीर्घावधि के पश्चात् और अत्यधिक कष्टों के बाद प्राप्त होता है अर्थात् वह अतिदुर्लभ है।

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसियं ॥८॥

कदाचित् मनुष्यजन्म मिल भी जाय तो भी धर्मशास्त्र के वचन सुनना अत्यन्त दुर्लभ है जिन्हें सुनकर जीव तप, क्षमा तथा अहिंसा को स्वीकार करता है।

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥ ९ ॥

कदाचित् धर्मशास्त्रों के वचन सुन भी ले तो भी उस पर श्रद्धा होना अति दुर्लभ है। न्यायमार्ग पर चलने की बात सुनकर भी बहुत

वे लोग (उसका अनुसरण नहीं करते और दुराचारी स्वच्छन्दी जीवन बिताकर) भ्रष्ट बन जाते हैं।

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जई ॥ १० ॥

कदाचित् धर्मशास्त्रों के वचन सुने हों और उन पर श्रद्धा भी जम गई हो पर संयम-मार्ग में वीर्यस्फुरण होना अर्थात् प्रवृत्ति करना अत्यन्त कठिन है। बहुत से लोग श्रद्धासम्पन्न होते हुए भी संयममार्ग में प्रवृत्त नहीं होते।

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥ ११ ॥

जो जीव मनुष्य-जीवन प्राप्त करके धर्मशास्त्र के वचन सुनता है उस पर श्रद्धा रखता है और संयम-मार्ग में प्रवृत्त होता है वह तपस्वी और संवृत (संवरवाला) बनकर अपने (बद्ध और बद्ध्यमान) सभी कर्मों का क्षय कर देता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है।

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तेव्व पावए ॥ १२ ॥

सरलता से युक्त आत्मा की शुद्धि होती है और ऐसी आत्मा में ही धर्म स्थिर रह सकता है। घृत से सींची हुई अग्नि के समान वह देदीप्यमान होकर परम निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त करता है।

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ १३ ॥

कर्मों के कारण को अर्थात् मिथ्यात्व अविरति आदि को दूर करो। क्षमा सरलता मृदुता निर्लोभतादि प्राप्त कर सत्य का संचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य पार्थिव शरीर छोड़कर ऊर्ध्व दिशा की ओर प्रयाण करता है अर्थात् स्वर्ग अथवा मोक्ष में जाता है।

विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥ १४ ॥

उत्कृष्ट आचारों का पालन करने से जीव उत्तरोत्तर विमानवासी देव बनता है। वहाँ वह अतिशय सुशोभित और देदीप्यमान शरीर धारण करता है तथा स्वर्गीय सुखों में इतना लीन हो जाता है कि 'मुझे अब यहाँ से च्यवित नहीं होना है' ऐसा समझ लेता है।

अप्पिया देवकामाणं कामरूवविउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू ॥ १५ ॥

देव सम्बन्धित काम-सुखों को प्राप्त एवं इच्छानुसार रूप धारण करने की शक्तिवाले ये देव अनेक सैकड़ों पूर्व वर्षों तक ऊँचे स्वर्ग में रहते हैं।

विशेषण—एक पूर्व—७०५६०० [illegible] सत्तर हजार पाँच सौ साठ अरब वर्ष।

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए ॥ १६ ॥

वहाँ अपने-अपने स्थान रहे हुए वे देव आयुष्य का क्षय होने पर मनुष्ययोनि को प्राप्त करते हैं और उन्हें दस अंगों की प्राप्ति होती है।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥ १७ ॥

उक्त स्वर्ग में से च्यवित देव जहाँ क्षेत्र (खुली जमीन—खेत-बगीचा आदि) वास्तु (मकान महल आदि) हिरण्य (सोना, चाँदी जवाहरात आदि) और पशु तथा दास-दासी इन्हीं चार कामस्कन्ध अर्थात् सुखभोग की सामग्री हो वहाँ जन्म धारण करते हैं।

मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥ १८ ॥

[ऊपर चार काम-स्कन्धरूपी एक अंग का निर्देश किया गया है। शेष अन्य नौ अंगों का वर्णन इस गाथा में किया गया है] (२) उसके अनेक सन्मित्र होते हैं (३) उसके बहुत से कुटुम्बिजन होते हैं (४) वह उत्तम गोत्र में जन्म लेता है (५) सौन्दर्यशाली होता है (६) व्याधि-रहित होता है (७) बुद्धि-सम्पन्न होता है (८) विनयी होता है (९) यशस्वी होता है और (१०) बलवान् भी होता है। इस प्रकार उसे दस अंग की प्राप्ति होती है।

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्विं विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥ १९ ॥

आयुष्य के अनुसार मनुष्य योनि के उत्तमोत्तम भोग भोगकर तथा पूर्वभव में किये हुए शुद्ध धर्म के आचरण के फलस्वरूप वह सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है।

धारा ७

आत्म-जय

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो॥१॥

[उत्त० अ० २३ गा० ७३]

शरीर को 'नौका' कहा गया है, आत्मा को 'नाविक' कहा गया है और इस संसार को 'समुद्र' कहा गया है, जिसे महर्षिगण पार कर जाते हैं।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥२॥

[दस चूलिका गा १६]

सर्व इन्द्रियों को बराबर समाधियुक्त कर आत्मा को पापप्रवृत्ति से निरन्तर बचाते रहना चाहिये क्योंकि इस प्रकार नहीं बचाई गई आत्मा जन्मों की परम्परा प्राप्त करती है जबकि सुरक्षित आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त होती है।

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चएज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलन्ति इन्दिया,
उवेंति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥३॥
[दश चूलिका १, गा १७]

जिस तरह वायु का प्रचण्ड झोंका मेरुपर्वत को नहीं डिगा सकता, ठीक उसी तरह 'शरीर को भले ही छोड़ दूँ किन्तु धर्म-शासन को कदापि नहीं छोड़ूँगा' ऐसी दृढ़ निश्चयवाली आत्मा को इन्द्रियाँ कभी भी विचलित नहीं कर सकती ।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥४॥
[उत्त० अ० १ गा० १५]

आत्मा का ही दमन करना चाहिये । वस्तुतः आत्मा दुर्दम्य है । उसका दमन करनेवाला इस लोक और परलोक मे सुखी होता है ।

विवेचन—यहाँ आत्मा से अपनी आन्तरिक वृत्तियाँ समझना ।

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहि दम्मन्तो, बंधणेहि वहेहि य ॥५॥
[उत्त अ १ गा १६]

दूसरे लोग मुझे कोई अन्य मेरी आत्मा को बन्धन में डाले और उसे मार-मार कर दमन करें उसकी अपेक्षा यही मैं स्वयं ही अपनी आत्मा का संयम और तप के द्वारा दमन करूँ यही श्रेष्ठ है ।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥६॥

[उत्त० अ २ गा ३६]

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है मेरी आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है मेरी आत्मा ही कामधेनु है और मेरी आत्मा ही नन्दन वन है ।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुक्खाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ॥७॥

[उत्त अ २ गा ३७]

आत्मा स्वय ही दुःख तथा सुखों को उत्पन्न तथा नाश करने वाली है । सन्मार्ग पर चलनेवाली सदाचारी आत्मा मित्ररूप है जब कि कुमार्ग पर चलनेवाली दुराचारी आत्मा शत्रु ।

जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिए ।
एग जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥८॥

[उत्त अ ९ गा ३४]

पुरुष दुर्जय संग्राम में दस लाख शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे उसकी अपेक्षा तो यह अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त कर ले, यही श्रेष्ठ विजय है ।

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥९॥

[उत्त अ० ९ गा० ३५]

हे पुरुष ! तू आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाहरी शत्रुओं के साथ युद्ध किस लिये करता है ? आत्मा के द्वारा ही आत्मा को जीतने से सच्चा सुख मिलता है।

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं ॥१०॥
[उत्त० अ० ९ गा० ३६]

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान माया और लोभादि की वृत्तियाँ दुर्जय हैं ठीक वैसे ही आत्मा को जीतना बहुत कठिन है। जिसने आत्मा को जीत लिया उसने सबको जीत लिया।

न तं अरी कण्ठछित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥११॥
[उत्त० अ० २ गा० ४८]

दुराचार में प्रवृत्त आत्मा हमारा जितना अहित करती है उतना अहित तो गला काटने वाला कट्टर शत्रु भी नहीं करता। ऐसा निर्दयी मनुष्य मृत्यु के समय अवश्य अपने दुराचार को पहचानेगा और फिर पश्चात्ताप करेगा।

जा पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।

अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,

न मूलओ छिन्दइ बन्धण से ॥१२॥

[उत्त अ २ गा० ३९]

जो साधक प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् भी—प्रमादवश अङ्गीकृत महाव्रतों का उचित रूप से पालन नहीं करता और विविध रसों के प्रति लोभी बनकर अपनी आत्मा का निग्रह नहीं करता उसके बन्धन जड़ मूल से कभी नष्ट नहीं होते।

से जाण मजाण वा, कट्टु आहम्मियं पयं।

संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे ॥१३॥

[द अ ८, गा० ३१]

यदि विवेकी मनुष्य जाने-अनजाने में कोई अधर्म कृत्य कर बैठे तो उसे अपनी आत्मा को शीघ्र ही उस से दूर कर ले और फिर दूसरी बार वैसा कार्य नहीं करे।

पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि ॥१४॥

[आ० अ १ अ ३, सू० ११९]

हे पुरुष! तू अपनी आत्मा को ही वश में कर। ऐसा करने से तू सब दुःखों से मुक्त हो जायगा।

धारा ८

मोक्षमार्ग

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयम्मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥१॥

[उत्त० अ० २८, गा १]

ज्ञान दर्शन चरित्र और तप [ये मोक्षमार्ग हैं।] इस मार्ग पर चलनेवाले जीव सुगति मे जाते हैं।

विवेचन—सभी मुमुक्षु मोक्षप्राप्ति की अभिरुचि रखते हैं परन्तु उस की इस अवस्था पर पहुचने का सच्चा विश्वास-पात्र मार्ग कौन-सा है? यह जानना आवश्यक है। इसीलिये यहाँ स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान दर्शन चरित्र और तप की यथार्थ आराधना ही मुक्ति का सच्चा मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करनेवाले उत्तम सुगति मे अर्थात् मोक्ष मे जाते हैं।

ऐसा जोण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥२॥

[उत्त अ २८, गा ३५]

ज्ञा... जानते हैं दर्शन से उस पर श्रद्धा होती

है चारित्र से कर्म का आस्रव रुकता है और तप से आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धि होती है।

> तत्थ पञ्चविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
> ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥२॥
> [उत्त० अ० २८, गा० ४]

इनमें ज्ञान पाँच प्रकार का है :—(१) आभिनिबोधिक (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्यव और (५) केवल।

विवेचन—मोक्ष के चतुर्विध साधनों मे ज्ञान का क्रम पहला है, अतः उसका वर्णन प्रथम किया गया है। जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो वस्तु पहचान में आवे अथवा वस्तु समझी जाय वह ज्ञान कहलाता है। इसके पाँच प्रकार हैं आभिनिबोधिक आदि।

पाँच इन्द्रियाँ तथा छठे मन के द्वारा जो अर्थाभिमुख निश्चयात्मक बोध होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है। इसी को मतिज्ञान भी कहते हैं। हम स्पर्श कर, चख कर, सूँघ कर, देख कर तथा सुन कर जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह मतिज्ञान है।

इस ज्ञान की प्राप्ति चार भूमिकाओं में होती है। जिसमें से पहली भूमिका का नाम अवग्रह है दूसरी का ईहा तीसरी का अपाय और चौथी का धारणा।

एक वस्तु का स्पर्श होने पर 'कुछ है' ऐसा जो ज्ञान अव्यक्तरूप में होता है वह अवग्रह कहलाता है। 'यह क्या होगा ?' ऐसा जो विचार पैदा होता है वह है ईहा। 'यह वस्तु यही है' ऐसा जो निर्णय होता है वह अपाय कहलाता है। तथा 'मुझे इस वस्तु का स्पर्श हुआ'

धारा ८

मोक्षमार्ग

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥१॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३]

ज्ञान दर्शन चरित्र और तप [ये मोक्षमार्ग हैं।] इस मार्ग पर चलनेवाले जीव सुगति में जाते हैं।

विवेचन—सभी मुमुक्षु मोक्षप्राप्ति की अभिरुचि रखते हैं परन्तु मोक्ष की इस अवस्था पर पहुँचने का सच्चा विश्वास-पात्र मार्ग कौन सा है? यह जानना आवश्यक है। इसीलिये यहाँ स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान दर्शन चरित्र और तप की यथार्थ आराधना ही मोक्षप्राप्ति का सच्चा मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करनेवाले अवश्य सुगति में अर्थात् मोक्ष में जाते हैं।

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥२॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३५]

ज्ञान से पदार्थ जाने जा सकते हैं दर्शन से उस पर श्रद्धा होती

की सहायता के बिना आत्मा को सीधे ही प्राप्त होते हैं, अतः इनकी गणना प्रत्यक्ष-ज्ञान में की जाती है। इनकी अपेक्षा आभिनिबोधिक ज्ञान तथा श्रुतज्ञान परोक्ष हैं जबकि व्यवहार की गणना इससे भिन्न है। व्यवहार में इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और अनुमान शब्द आदि से होनेवाले सीधे ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। शास्त्रकारों ने सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक-परोक्ष के रूप में इसकी सूचना दी है।

एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाण य सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥४॥

[उत्त० अ० २८, गा० ५]

सर्वद्रव्य सर्वगुण और सर्वपर्यायों का स्वरूप जानने के लिये ज्ञानियों ने पाँच प्रकार का ज्ञान बतलाया है।

विवेचन—इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञेय वस्तु इन पाँच ज्ञान की मर्यादाओं से बाहर नहीं है।

पाँच ज्ञानों का स्वरूप तथा उनकी प्रक्रिया नन्दिसूत्र तथा विशेषावश्यकभाष्य में विस्तारपूर्वक समझाई गई है।

जीवाऽजीवा य बंधो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संते ए तहिया नव ॥५॥

[उत्त० अ० २८, गा० १४]

---

* इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए सम्पादक द्वारा गुजराती भाषा में लिखी गई 'ज्ञानोपासना' (धर्मबोध-ग्रन्थमाला की [illegible] पुस्तक) देखनी चाहिये।

ऐसा जो स्मरण, वह धारणा कहलाती है। लकड़ी का स्पर्श होते ही 'लकड़ी का स्पर्श मुझे हुआ' ऐसा अनुभव होता है। किन्तु इसकी अवधि में तो उक्त चारों क्रियाएँ अत्यन्त शीघ्रता से हो जाती हैं। अज्ञात वस्तु का स्पर्श होने पर ये क्रियाएँ मन्दगति से होती हैं तब उनका ज्ञान होता है जबकि चिरपरिचित वस्तु में उपयोग अति शीघ्र रहता है, इसलिये उसका ज्ञान नहीं होता।

श्रुतज्ञान का सादा अर्थ है—सुनकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान। हम व्याख्यान सुनकर अथवा पुस्तक पढ़कर जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह यह दूसरे प्रकार का श्रुतज्ञान है।

प्रत्येक संसारी जीव में ये दोनों ज्ञान व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में अवश्य रहते हैं।

आत्मा को रूपी द्रव्यों का अमुक काल और अमुक क्षेत्र तक मर्यादित जो ज्ञान होता है वह है अवधिज्ञान। दूसरे के मन के पर्यायों—भावों का जो ज्ञान होता है वह है मनःपर्यव अथवा मनःपर्यवज्ञान है और प्रत्येक वस्तु के सभी पर्यायों का सर्वकालीन जो ज्ञान होता है वह है केवलज्ञान।

अवधिज्ञान नारकीय और देव के जीवों को सहज में होता है अर्थात् वे जन्म लेते हैं तब से ही अवधिज्ञान से युक्त होते हैं जबकि तिर्यञ्च तथा मनुष्यों को यह ज्ञान विशिष्ट शक्ति से प्राप्त होता है। मनःपर्यव और केवलज्ञान केवल मनुष्य को ही प्राप्त होता है और उसके लिये विशिष्टावस्था की अपेक्षा रहती है।

अवधि मनःपर्यव और केवल ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय और मन

तहियाण तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥६॥
[उत्त० अ० २८, गा० १५]

स्वभावतः अथवा उपदेश के कारण इन तत्त्वों के यथार्थस्वरूप में भावपूर्वक श्रद्धा रखना उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विवेचन—सम्यग्दर्शन का अर्थ है तत्त्वों के यथार्थस्वरूप की भावपूर्वक श्रद्धा। यह स्वभाव से अर्थात् नैसर्गिक रीति से और उपदेश से अर्थात् गुरुजनों के व्याख्यानादि श्रवण करने से यों दो प्रकार से होती है। श्री उमास्वातिवाचक ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रथम अध्याय में— 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' और 'तन्निसर्गादधिगमाद् वा' इन दो सूत्रों द्वारा उसकी स्पष्टता की है।

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा ।
वावन्नकुदंसणवज्जणा य, सम्मत्तसद्दहणा ॥७॥
[उत्त० अ० २८, गा० २८]

परमार्थसंस्तव परमार्थज्ञसेवन व्यापन्नदर्शनी का त्याग और कुदर्शनी का त्याग ये सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित श्रद्धा के चार अंग हैं।

विवेचन—परमार्थसंस्तव का अर्थ है तत्त्व की विचारणा तत्त्व सम्बन्धी परिशीलन। परमार्थज्ञसेवन का अर्थ है तत्त्व को जानने-वाले गीतार्थ पुरुषों के चरणों की सेवा। व्यापन्नदर्शनी का अर्थ है जो एक बार सम्यक्त्व से युक्त हो किन्तु किसी कारणवश उससे

(१) जीव (२) अजीव (३) बंध (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आस्रव (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष ये नव तत्त्व हैं।

विवेचन—इस जगत् में जो कुछ जानने योग्य है उसे ज्ञेय तत्त्व कहते हैं जो कुछ छोड़ने योग्य है, उसे हेय तत्त्व कहते हैं और जो कुछ आदरने योग्य है, उसे उपादेय तत्त्व कहते हैं।

इन तीनों तत्त्वों के विस्तार के रूप में ही नव तत्त्वों की योजना की गई है। ज्ञेय तत्त्व के दो प्रकार हैं :—जीव और अजीव। इन दोनों तत्त्वों का परिचय पहले दिया जा चुका है। हेय तत्त्व के तीन प्रकार हैं :—आस्रव, बन्ध और पाप। जिससे कर्म आत्मप्रदेश की ओर खिंचा आता है वह आस्रव, जिससे कर्म आत्मप्रदेश के साथ ओत-प्रोत हो जायें, वह बन्ध और जिससे आत्मा को अशुभ फल भोगना पड़े वह पाप। उपादेय तत्त्व के चार प्रकार हैं :–संवर, निर्जरा मोक्ष और पुण्य। आस्रव को रोकनेवाली क्रिया संवर कहलाती है, आत्म-प्रदेशों के साथ ओतप्रोत बने हुए कर्मों का अंशतः अथवा अधिक अंश में पृथक् हो जाना उसे निर्जरा कहते हैं, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने को मोक्ष कहते हैं तथा शुभफल देनेवाला कर्म पुण्य कहलाता है। इसमें पुण्य कथञ्चित् उपादेय है क्योंकि उससे सत्साधनों की प्राप्ति होती है किन्तु मोक्ष में जाने के लिये उसका भी क्षय होना आवश्यक है।

नवतत्त्व प्रकरण तथा सटीक कर्मग्रन्थों में नवतत्त्वों के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी दी गई है।

---

* सम्पादक ने 'जैन-कर्मदर्शन' नामक अपने बृहद् ग्रन्थ में इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि के साथ विस्तृत विवेचन किया है।

रहित हो तो उसका चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता और इसी कारण उसके द्वारा उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यहाँ तप का समावेश सम्यक् चारित्र में ही किया गया है अतः उसकी पृथक् गणना नहीं की गई।

सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इन तीन साधनों को रत्नत्रयी कहते हैं। श्री उमास्वातिवाचक ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रारम्भ में मोक्षमार्ग के साधनरूप में इस रत्नत्रयी का ही उल्लेख किया है।

उपर्युक्त तीन साधनों का संक्षेप ज्ञान और क्रिया इन—दो साधनों में किया जाता है; वहाँ दर्शन का समावेश ज्ञान में किया जाता है, और चारित्र के स्थान पर क्रिया शब्द बोला जाता है। 'नाण-किरियाहिं मोक्खो' ये वचन उसके लिये प्रमाणभूत हैं। तात्पर्य यह कि यहाँ मोक्षमार्ग के चतुर्विध साधनों का वर्णन किया गया है, किन्तु ये साधन चार ही होते हैं इससे न्यूनाधिक नहीं हो सकते ऐसा एकान्तिक आग्रह नहीं है। अपेक्षाभेद से इन साधनों की संख्या न्यूनाधिक हो सकती है।

> सामाइय त्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीयं।
> परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च ॥९॥
> अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।
> एयं चयरित्तकरं, चारित्त होइ आहियं ॥१०॥
>
> [उत्त० अ० २८, गा० ३२-३३]

भ्रष्ट हो गया हो। कुदर्शनी का अर्थ है मिथ्यादर्शन की मान्यता रखनेवाला। इन चार अंगों में से आरम्भ के दो अंग श्रद्धा को पुष्ट करनेवाले हैं जबकि शेष दो अंग श्रद्धा का संरक्षण करनेवाले हैं।

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥८॥

[उत्त० अ० २८, गा ३०]

सम्यग् दर्शन के बिना सम्यग् ज्ञान नहीं होता सम्यग् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र के गुण नहीं आते सम्यक् चारित्र के गुणों के बिना सर्व कर्मों से छुटकारा नहीं होता; और सर्व कर्मों से छुटकारा पाये बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती।

विवेचन—ज्ञान से पदार्थों को जाना जा सकता है और दर्शन से उसपर श्रद्धा होती है इसलिये 'नाणं दंसणं चेव' यह क्रम दिखलाया है। परन्तु जीव मात्र का मोक्षमार्ग की ओर सच्चा प्रस्थान तो सम्यग् दर्शन की—सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के पश्चात् ही होता है यह वस्तु यहाँ स्पष्ट की गई है। जिसे सम्यग् दर्शन प्राप्त हो, उसे ही सम्यग् ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व जीव को जो कुछ ज्ञान रहता है वह वास्तव में अज्ञान ही है क्योंकि मोक्षप्राप्ति में वह उपकारक सिद्ध नहीं होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के पश्चात् वही ज्ञान सम्यग् बन जाता है।

जिसको सम्यग् ज्ञान हुआ हो उसको ही सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है। इसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि मनुष्य चाहे जितने ऊँचे चरित्र का पालन करता हो, किन्तु यह सम्यग् ज्ञान से

पहला सामायिक नाम का चारित्र है, दूसरा छेदोपस्थापनीय नामक चारित्र है, तीसरा परिहारविशुद्धि नामक चारित्र है और चौथा सूक्ष्मसंपराय नामवाला चारित्र है।

कषाय से रहित चारित्र यथाख्यात कहलाता है। यह छद्मस्थ और केवली को होता है। भगवान् ने कहा है कि ये पाँचों चारित्र कर्मों का नाश करनेवाले हैं।

विवेचन—आत्मा को शुद्ध दशा में स्थिर करने का प्रयत्न चारित्र है। इसीको संवर, संयम, त्याग अथवा प्रत्याख्यान भी कहा जाता है। परिणामशुद्धि के तरतमभाव की अपेक्षा से चारित्र के पाँच प्रकार किये गये हैं। छद्म अर्थात् परदा। अब तक जिसके ज्ञान पर परदा है वह है छद्मस्थ। केवलज्ञान होने से पूर्व सभी आत्माएँ इस अवस्था में रहती हैं।

मन, वचन और काया से पापकर्म नहीं करना, नहीं कराना तथा करते हुए को अनुमति नहीं देना, ऐसे संकल्पपूर्वक जो चारित्र ग्रहण किया जाता है उसे सामायिक-चारित्र कहते हैं। यह चारित्र व्रतधारी गृहस्थों में अल्पांश तथा साधुओं में सर्वांश मात्रा में होता है।

नये शिष्य को दशवैकालिक-सूत्र का षड्जीवनिका नामक चौथा अध्ययन पढ़ाने के बाद जो बड़ी दीक्षा दी जाती है उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं अथवा एक तीर्थङ्कर के साधु को अन्य तीर्थङ्कर के शासन में प्रवेश करने के लिये नया चारित्र ग्रहण करना पड़ता है, उसे भी छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। श्री पार्श्वनाथ भगवान् के चातुर्याम धर्मवाले साधुओं ने पाँच महाव्रतात्मक श्रीमहावीर

स्वामी का मार्ग स्वीकृत किया तब नये सिरे से चारित्र ग्रहण किया था यह इस प्रकार का था। सामायिक-चारित्र के पर्याय का छेदन कर उपस्थापित किया जाता है इसलिये इसे छेदोपस्थापनीय कहते हैं। इसमें प्रवेश करने के बाद पूर्वावस्था के मुनियों के साथ व्यवहार में आ सकते हैं।

विशिष्ट प्रकार की तपश्चर्या से आत्मा की शुद्धि करना परिहार विशुद्धि नामक तीसरा चारित्र है।

क्रोध मान माया और लोभ इन चार कषायों को सम्पराय कहते हैं। यह सूक्ष्म हो जाय अर्थात् उपशम या क्षय को प्राप्त हो जाय तब सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र की प्राप्ति मानी जाती है। इस चारित्र में सूक्ष्म लोभ का अंश शेष रहता है।

जब सूक्ष्म लोभ भी चला जाय और इस प्रकार सम्पूर्ण कषाय रहित अवस्था प्राप्त हो तब यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति मानी जाती है। इस चारित्र को वीतराग चारित्र भी कहते हैं, क्योंकि उस समय आत्मा राग और द्वेष दोनों से ऊपर उठ सम्पूर्ण माध्यस्थभाव को प्राप्त होती है।

छद्मस्थ आत्मा उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त करती हुई इस अवस्था तक पहुँचती है और केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी इस चारित्र में स्थिर रहती है।

ये सब चारित्र उत्तरोत्तर शुद्ध हैं और कर्म का क्षय करने में परम उपकारक हैं।

तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥११॥

[उत्त० अ० २८ गा० ११]

तप दो प्रकार का बतलाया गया है। बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का वर्णित है और आभ्यन्तर तप भी इतने ही प्रकार का।

विवेचन—जो शरीर के रसों धातुओं तथा मन को तपाये वह तप कहलाता है। कर्म की निर्जरा करने के लिये यह उत्तम साधन है। तप दो प्रकार का है :—बाह्य और आभ्यन्तर। इन मे बाह्य-तप शरीर की शुद्धि मे विशेष उपकारक है और आभ्यन्तर तप मानसिक शुद्धि मे। इन दोनों तपों के अलग-अलग छह प्रकार है।

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होई ॥ १२ ॥

[उत्त० अ० ३ गा० ८]

बाह्यतप के छह प्रकार है—(१) अनशन (२) ऊनोदरिका (३) भिक्षाचरी (४) रसपरित्याग (५) कायक्लेश तथा (६) संलीनता।

विवेचन—भोजन का अमुक समय के लिये अथवा पूर्ण समय के लिये परित्याग करना अनशन कहलाता है। एकासन आयंबिल, उपवास—ये सब इसी तप के प्रकार है। क्षुधा से कुछ कम भोजन करने की क्रिया को ऊनोदरिका कहते है। शुद्ध भिक्षा पर निर्वाह

करने को भिक्षाचरी कहते हैं। इसके स्थान पर वृत्तिसंक्षेप भी आता है जिसमें खाद्य पदार्थों का संकोच किया जाता है। दूध दही, घृत तेल गुड़ और पक्वान्न—इन छह रसों में से एक अथवा सभी रसों का त्याग कर देना रसत्याग कहलाता है। किसी एक आसन पर बैठ कर उस पर दीर्घकाल तक स्थिर रहना कायक्लेश कहलाता है। अथवा केश-लुंचन पादचर्या आदि कष्ट सहन करे, उसे भी कायक्लेश कहते हैं। ठीक वैसे ही अपने अंगोपांग संकुचित कर एकान्तवास में रहने को संलीनता कहते हैं।

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो वि य, अब्भिंतरो तवो होई ॥१३॥
[उत्त० अ ३ गा ३]

आन्तरिक तप के छह प्रकार हैं :—(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

विवेचन—पापकर्म करने योग्य नहीं है लेकिन जान-अनजाने हो जाये तो उसकी विशुद्धि के लिये गुरु द्वारा दण्ड के स्वरूप में निर्दिष्ट तप आदि यथोचित अनुष्ठान करना प्रायश्चित्त कहलाता है। देव गुरु, धर्म तथा मोक्ष के साधनों के प्रति आदरभाव दिखलाने की क्रिया को विनय कहते हैं। देव गुरु और धर्म की सेवा करना वैयावृत्य कहलाता है। आत्मोन्नतिकारक शास्त्रों के अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं। मन को अशुभ वृत्ति से दूर हटाना तथा शुभवृत्ति में एकाग्र करना ध्यान कहलाता है। और

चोर-समूह का त्याग करके एकाग्रभाव से विचरण करना तथा काया के ममत्व को छोड़कर आत्मभाव में रहना व्युत्सर्ग है।

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥१४॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३६]

जो महर्षि हैं वे संयम और तप से पूर्व कर्मों का क्षय कर समस्त दुःखों से रहित ऐसे मोक्षपद की ओर शीघ्र गमन करते हैं।

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसगं ॥१५॥

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण पलिमन्थए ॥१६॥

तवनारायजुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥१७॥

[उत्त० अ० ९, गा० २०-२१-२]

---

* तपोरत्नमहोदधि ग्रन्थ में अनेक प्रकार के तपों का वर्णन किया गया है और सम्पादक ने 'तप-विचार' 'तपस्वी रत्न' (धर्मबोध-ग्रन्थमाला पु० ११) और 'तप की महत्ता' (जैन शिक्षावली प्रथम श्रेणी पु० ८) तथा 'आयंबिल-रहस्य' (जैन शिक्षावली द्वितीय श्रेणी पु० ६) नामक गुजराती पुस्तकों में तप के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से विचार किया है।

श्रद्धारूपी नगर, क्षमारूपी दुर्ग और तप-संयमरूपी अर्गला बनाकर त्रिगुप्तिरूप शस्त्रों द्वारा कर्मशत्रुओं से अपनी रक्षा करनी चाहिये।

पुनः पराक्रमरूपी धनुष को ईर्यासमिति रूप डोरी बनाकर धैर्यरूपी केतन से सत्य द्वारा उसे बाँधना चाहिये।

उस धनुष पर तपरूपी बाण चढ़ाकर कर्मरूपी कवच का भेदन करना चाहिये। इस प्रकार से संग्राम का सदा के लिये अन्त कर मुनि भवभ्रमण से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग के पथिक को नीचे लिखे गुण प्राप्त करने चाहिये।

१ : श्रद्धा—आत्मश्रद्धा देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा, नव तत्वों पर श्रद्धा।

२ : क्षमा—क्रोध पर विजय। यहाँ मान, माया और लोभ पर विजय का निर्देश नहीं किया गया है पर यह समझ लेना चाहिये। इस प्रकार मार्दव, सरलता और निर्लोभता भी अर्जित करनी चाहिये।

३ : तप—अनेकविध तप।

४ : संयम—पाँच इन्द्रियों पर नियन्त्रण।

५ : त्रिगुप्ति—गुप्ति अर्थात् असमस्त प्रवृत्ति का निग्रह। इसके तीन प्रकार हैं—(१) मनगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। संयम मार्ग में आगे बढ़ने के लिये ये तीनों गुप्तियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

६ : पराक्रम—विघ्नों की परवाह किये बिना ध्येय की ओर अग्रसर होने का दृढ़ पुरुषार्थ।

७ : ईर्यासमिति—समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। इसके पाँच प्रकार हैं :—(१) ईर्या-समिति (२) भाषा-समिति (३) एषणा समिति (४) आदान निक्षेप-समिति और (५) पारिष्ठापनिका-समिति। इन पाँचों समितियों का पालन मोक्षसाधना में अत्यन्त उपकारक सिद्ध होता है। तीन गुप्तियों और पाँच समितियों को अष्टप्रवचन-माता कहा जाता है। इसका वर्णन इस ग्रन्थ की अठारहवीं धारा में किया गया है।

८ : धैर्य—चित्तस्वास्थ्य। जिस साधक का चित्त स्वस्थ नहीं है वह मोक्षमार्ग की साधना में आगे प्रगति नहीं कर सकता। चाहे कष्टों के पहाड़ ही न टूट जाय तो भी उसे सहन करने की तैयारी रखनी चाहिये।

९ : सत्य—सत्य की उपासना, सत्य के प्रति आग्रह।

१० : तप—यहाँ तप शब्द से इच्छानिरोधरूपी तप समझना चाहिये।

११ : कर्मरूपी कवच का भेदन—समस्त कर्मों का क्षय।

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥१८॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३]

गुरु और वृद्ध सन्तों की सेवा, अज्ञानी जीवों की संगति का दूर से ही त्याग, स्वाध्याय, स्त्री-नपुंसकादि रहित एकान्तस्थान का सेवन

सूत्रार्थ का उत्तम प्रकार से चिन्तन तथा धैर्य ये एकान्तिक सुखरूप मोक्षप्राप्ति के मार्ग हैं।

विवेचन—मोक्षमार्ग के पथिक में कुछ और भी गुण होने चाहिये जो यहाँ दिखाये गये हैं :—

१ : गुरु की सेवा—ज्ञान दें वे गुरु। उनके प्रति विनय रखने से उनकी सेवा करने से शास्त्रों का रहस्य समझ में आता है और मोक्ष की साधना में शीघ्र आगे बढ़ सकता है।

२ : वृद्ध सन्तों की सेवा—यह भी गुरुसेवा के समान ही उपकारक है।

३ : अज्ञानियों की संगति का त्याग—जो बालभाव में क्रीड़ा कर रहे हैं उन्हें अज्ञानी समझना चाहिये। उनकी संगति करने से मोक्षसाधना का उत्साह शिथिल हो जाता है, अथवा उससे भ्रष्ट होने का प्रसंग भी आ जाता है। इसलिये उनकी संगति का परित्याग करना चाहिये। संगति करना हो तो परमार्थ जाननेवाले ज्ञानियों की ही करनी चाहिए ताकि कल्याण की प्राप्ति हो।

४ : स्वाध्याय—आप्तप्रणीत शास्त्रों का अभ्यास।

५ : एकान्त-निषेवण—एकान्त में रहना।

६ : सूत्रार्थ का उत्तम प्रकार से चिन्तन—सूत्र और अर्थ दोनों का अच्छी तरह चिन्तन मनन करने पर मन का विशेष दृढ़ जाता है और मोक्षसाधना के उत्साह में वृद्धि होती है।

७ : धैर्य—चित्त की स्वस्थता।

धारा ६

साधना-क्रम

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥१॥
[दश० अ० ४ गा० ११]

साधक सद्गुरु का उपदेश श्रवण करने से कल्याण का—आत्म-हित का मार्ग जान सकता है ठीक वैसे ही सद्गुरु का उपदेश श्रवण करने से पाप का—अहित का मार्ग भी जान सकता है। अतः इस प्रकार वह हित और अहित दोनों का मार्ग जान ले, तभी जो मार्ग हितकर हो उसका आचरण करे।

जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाऽजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥२॥
[दश० अ० ४ गा० १२]

जो जीवों को नहीं जानता है वह अजीवों को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जीव और अजीव दोनों को भी नहीं जाननेवाला साधक संयम को किस प्रकार जानेगा ?

विवेचन—साधक को सर्व प्रथम जीवों का आत्मतत्त्व—का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये अर्थात् उसके लक्षणादि से परिचित होना

चाहिये। जिसने इस तरह का ज्ञान प्राप्त नहीं किया उसको अजीव का ज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों के बोध का भेद उसकी समझ में नहीं आता। इस तरह जो जीवों और अजीवों दोनों के स्वरूप से अज्ञात है वह संयम का स्वरूप भी नहीं जान सकता क्योंकि संयमपालन का जीवदया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणन्तो, सो हु नाहीइ संजमं ॥३॥

[दश० अ० ४, गा० १३]

जो जीवों को अच्छी तरह जानता है वह अजीवों को भी अच्छी तरह जानता है। इसी प्रकार जीव और अजीव दोनों को सर्वोत्तम रूप में जाननेवाला संयम को भी अच्छी तरह जान लेता है।

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥४॥

[दश० अ० ४ गा० १४]

जब कोई साधक जीवों और अजीवों को उत्तम रीति से जानता है तब वह सभी जीवों की बहुविध गति को भली-भाँति पहचानता है।

विवेचन—यहाँ गति शब्द का अर्थ एक भव से दूसरे भव में जाने की क्रिया समझनी चाहिये। यह गति नरक, तिर्यंच मनुष्य और देव इस तरह चार प्रकार की है। संसारी जीव को इन चार गतियों में से एक गति में अवश्य उत्पन्न होना पड़ता है क्योंकि उसने इस

प्रकार का कर्मबन्धन किया है और कर्म के फल भोगे बिना किसी को मुक्ति नही मिलती।

> जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
> तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥५॥
>
> [दश० अ० ४ गा० १५]

जब साधक सर्वजीवों की अनेकविध गतियो को जानता है तब पुण्य पाप, बन्ध और मोक्ष को जानता है।

विवेचन—जब साधक जीवकी अनेकविध गति का कारण सोचता है तब उसके सामने पुण्य-पाप का सिद्धान्त आ जाता है। जैसे कि पुण्य करनेवालों को सद्गति होती है और पाप करनेवालो को दुर्गति। पीछे अधिक विचार करने पर पुण्य और पाप एक प्रकार का कर्मबन्धन है यह बात उसके समझने मे आती है और जहाँ कर्मबन्धन है वहाँ उसमे से छूटने की कोई प्रक्रिया भी अवश्य होनी चाहिये ऐसा अनुमान होते ही मोक्ष का निर्णय हो जाता है।

> जया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ।
> तया निव्विंदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥६॥
>
> [दश० अ० ४, गा० १६]

जब साधक पुण्य, पाप बन्ध और मोक्ष का स्वरूप अच्छी तरह जान लेता है तब उसके मन मे स्वर्गीय तथा मानुषिक दोनों प्रकार के भोग सारहीन है यह बात उसके ध्यान मे आ जाती है और उसके प्रति निर्वेद—वैराग्य उत्पन्न होता है।

जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतर-बाहिरं ॥७॥
[दश० अ० ४ गा० १७]

जब साधक के मन में स्वर्गीय तथा मानुषिक भोगों के प्रति निर्वेद —वैराग्य उत्पन्न होता है तब आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को वह छोड़ देता है।

विवेचन —यहाँ आभ्यन्तर संयोग से कषाय और बाह्य संयोग से धन धान्यादि का परिग्रह तथा कुटुम्बिजनों का सम्बन्ध ऐसा अर्थ लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि साधक में जब स्वर्गीय अथवा मानुषिक भोग की इच्छा नहीं रहती तब कषाय करने का कोई कारण नहीं रहता और धन धान्यादि तथा कुटुम्बिजनों के प्रति रहे ममत्व में अपने आप ही कमी आ जाती है।

जया चयइ संजोगं सब्भिंतर-बाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥८॥
[दश० अ० ४ गा० १८]

जब साधक आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को छोड़ देता है तब सिर मुंडाकर अणगार धर्म में प्रव्रजित होता है।

विवेचन —अणगार धर्म अर्थात् श्रमण-धर्म साधु धर्म। प्रव्रजित होना अर्थात् दीक्षित होना। निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में साधु-धर्म की दीक्षा ग्रहण करते समय सिर मुंडवाना आवश्यक होता है। बौद्ध-श्रमण भी दीक्षा ग्रहण करते समय सिर का मुण्डन कराते हैं।

जिसने सिर मुंडवाया उसने शरीर सम्बन्धी सारी शोभा सारे ममत्व का परित्याग कर दिया ऐसा समझा जाता है।

जया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥९॥
[दश० अ० ४ गा० १९]

जब साधक मस्तक का मुण्डन करवा कर अणगार धर्म में प्रव्रजित होता है तब उत्कृष्ट संयमरूपी धर्म का सर्वोत्तम रूप से आचरण कर सकता है।

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥१०॥
[दश० अ० ४ गा० २०]

जब साधक उत्कृष्ट संयमरूपी धर्म का सर्वोत्तम रूप से आचरण करता है तब मिथ्यात्वजनित कलुषित भावों से उत्पन्न कर्मरज को दूर कर देता है।

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥११॥
[दश० अ० ४ गा० २१]

जब साधक मिथ्यात्वजनित कलुषित भावों से उत्पन्न कर्मरज को दूर कर देता है, तब सर्वव्यापी ज्ञान (केवलज्ञान) और सर्वव्यापी दर्शन (केवलदर्शन) को प्राप्त कर सकता है।

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥१२॥
[दश अ ४ गा २२]

जब साधक सर्वव्यापी ज्ञान और सर्वव्यापी दर्शन को प्राप्त करता है तब वह लोक और अलोक को जान लेता है तथा जिन एवं केवली बनता है।

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥१३॥
[दश अ ४ गा २३]

जब साधक लोक और अलोक का ज्ञाता जिन तथा केवली बनता है तब अन्तिम समय में मन, वचन और काया की समस्त प्रवृत्तियों को रोककर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है अर्थात् पर्वत जैसी स्थिर-अकम्प दशा को प्राप्त होता है।

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१४॥
[दश अ ४ गा २४]

जब साधक मन, वचन और काया की समस्त प्रवृत्तियों को रोक कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है तब सम्पूर्ण कर्मों को क्षीण कर शुद्ध रूप धारण कर सिद्धि को पाता है।

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥१५॥
[दश अ ४ गा २५]

१ : क्षुधापरीषह—भूख से उत्पन्न वेदना सहन करना।

२ : तृषापरीषह—तृषा से उत्पन्न वेदना सहन करना।

३ : शीतपरीषह—ठण्ड से होनेवाली वेदना सहन करना।

४ : उष्णपरीषह—ताप से उत्पन्न वेदना सहन करना।

५ : दंश-मशकपरीषह—मच्छरों के काटने से उत्पन्न वेदना सहन करना।

६ : अचेलकपरीषह—वस्त्र रहित अथवा फटे हुए वस्त्रवाली स्थिति से दुःखी नहीं होना।

७ : अरतिपरीषह—चरित्र पालन करते हुए मन में ग्लानि न होने देना।

८ : स्त्रीपरीषह—स्त्रियों के अंग-प्रदर्शन से मन को विचलित न होने देना।

९ : चर्यापरीषह—किसी एक गाँव अथवा स्थान के प्रति ममत्व न रखते हुए राष्ट्र में विचरण करते रहना और इस प्रकार के विहार-परिभ्रमण में जो कष्ट आए, उसे शान्तिपूर्वक सहन करना।

१० : निषद्यापरीषह—स्त्री पशु और नपुंसकरहित स्थान में रह कर एकान्त सेवन करना।

११ : शय्यापरीषह—शयन का स्थान अथवा शयन के लिये पटिया आदि जो भी मिले उसके लिए दुःखी न होना।

१२ : आक्रोशपरीषह—कोई मनुष्य आक्रोश-कोप करे तिरस्कार करे, अपमान करे उसे शान्ति से सह लेना।

१३ : वधपरीषह—कोई मारपीट करे तो भी शान्ति से सह लेना।

१४ : याचनापरीषह—साधु को प्रत्येक वस्तु माग कर ही प्राप्त करना चाहिये अतः मन मे ग्लानि नही लाना।

१५ : अलाभपरीषह—भिक्षा मागने पर भी कोई वस्तु न मिले तो उसके लिये सन्ताप न करना।

१६ : रोगपरीषह—चाहे जैसा रोग अथवा व्याधि उत्पन्न क्यों न हुई हो किन्तु चीखना-चिल्लाना अथवा रोना-पीटना नही। साथ ही तत्सम्बन्धी सभी वेदनाएँ शान्ति-पूर्वक सहना।

१७ : तृणस्पर्शपरीषह—बैठते-उठते तथा सोते समय दर्भादि तृणों के कठोर स्पर्श को शान्ति-पूर्वक सह लेना।

१८ : मलपरीषह—पसीना तथा विहार आदि के कारण शरीर पर मैल जम जाने पर भी स्नान की इच्छा नही करना।

१९ : सत्कारपरीषह—कोई कैसा भी सत्कार क्यो न करे उससे अभिमान न करते हुए मन को वश मे रखना और यह सत्कार मेरा नही अपितु चारित्र का हो रहा है ऐसा मानना।

२ : प्रज्ञापरीषह—बुद्धि अथवा ज्ञान का अभिमान नही करना।

२१ : अज्ञानपरीषह—अत्यधिक परिश्रम करने पर भी सूत्रसिद्धान्त का चाहिये जितना बोध न हो तो उससे निराश न होना।

२२ : सम्यक्त्वपरीषह—किसी भी स्थिति मे सम्यक्त्व को अस्थिर न होने देना तथा उसका संरक्षण करना।

धारा १०

धर्माचरण

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥१॥

[उत्त अ २३ गा ६८]

जरा और मरण के प्रचण्ड झंझावात मे जीवों की रक्षा के लिये धर्म एक द्वीप (बेट) है आधार है और उत्तम शरण है ।

विवेचन—जहाँ जन्म है वहाँ जरा और मरण अवश्य है । जरा और मरण का वेग इतना तो प्रचण्ड है कि रोकने से रुक नहीं सकता अर्थात् उसके प्रचंड प्रवाह मे प्राणी मात्र को बहना ही पड़ता है और अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव भी करना पड़ता है । ऐसी अवस्था में धर्म ही एक अद्वितीय सहायक बनता है इसके आधार पर ही जीव मात्र अचल-अटल रह सकते है, और उनकी उत्तम रीति से रक्षा होती है । अन्य शब्दो मे कहें तो जिसने धर्म का आचरण नहीं किया उसको वृद्धावस्था मे बहुत दुःख उठाना पड़ता है और उसकी मृत्यु बिगड़ जाती है ।

मरिहिसि रायं जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे विहाय ।

एक्को हु धम्मो नरदेव ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥ २ ॥

[उत्त० अ० १४, गा० ४]

हे राजन् ! इन मनोहर एवं कमनीय ऐसे कामभोगों को छोड़कर एक दिन तुझे मरना ही है । उस समय हे नरदेव ! एकमात्र धर्म ही तेरा शरणावलम्बन सिद्ध होगा । धर्म के अतिरिक्त इस संसार में ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं कि जो तेरे उपयोग में आए ।

विवेचन —यहाँ राजा को सम्बोधित किया है, किन्तु बात सब के लिये समान रूप से उपयोगी है ।

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥३॥

[दश० अ० ८, गा० ११]

जब तक जरा पीड़ित न करे, व्याधि में वृद्धि न हो और इन्द्रियाँ क्षीण न हो जाए तबतक की अवधि में उत्तम प्रकार से धर्माचरण कर लेना चाहिये ।

विवेचन —प्रायः मनुष्य ऐसा समझता है कि जब मैं वृद्ध हो जाऊँगा वृद्ध बनूँगा तब धर्माचरण करूँगा । अभी तो आमोद-प्रमोद के दिन हैं । किन्तु उसका यह समझना भ्रान्ति है । देह क्षणभंगुर है । यह कब नष्ट हो जायगा कहा नहीं जा सकता । यदि मान लिया जाय कि आयुष्य की डोरी लम्बी है, और वह वृद्ध होनेवाला है,

तो क्या उस समय वह धर्माचरण कर सकेगा ? उस समय उसकी शारीरिक शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की व्याधियाँ शरीर को ग्रस्त कर लेती हैं और इन्द्रियाँ यथेष्ट कार्य करने मे प्रायः असमर्थ होती है। ऐसी स्थिति म भला किस तरह धर्माचरण हो सकता है ? अतः बुद्ध मनुष्य को आरम्भ से ही धर्म का आचरण कर लेना चाहिये। साथ ही यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि जिनने बाल्यकाल में अथवा यौवन म धर्माचरण नही किया उसे वृद्धावस्था म धर्म प्रिय नही लगता। फलतः जबसे मनुष्य बुद्ध समझने लगता है तब से ही उसे धर्माचरण करना आरम्भ कर देना चाहिये।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥ ४ ॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥ ५ ॥
[उत्त० अ० १४ गा० २४-२५]

जो-जो रात्रियाँ बीतती हैं वे पुनः लौटकर नही आतीं और अधर्मी की रात्रियाँ हमेशा निष्फल बीतती हैं।

जो जो रात्रियाँ बीतती हैं वे वापस लौट नही आती और धर्मी की रात्रियाँ हमेशा सफल होती हैं।

विवेचन—जो-जो रात बीतती है, वह पुनः लौट नही आती, वैसे ही जो-जो दिन बीतता है, वह भी पुनः लौट नही आता।

तात्पर्य यह है कि जो समय चला गया वह सदा के लिये हाथ से निकल गया वह पुनः आनेवाला नहीं है। ऐसी अवस्था में बुद्धिमान मनुष्यों का यह कर्तव्य हो जाता है कि समय का बन सके उतना सदुपयोग कर लेना चाहिये। जो मनुष्य अधर्म करता है उसके समय का दुरुपयोग हुआ ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि उसमें नया कर्मबन्धन होता है जिससे फलस्वरूप उसे अनेकविध दुःख सहन करने पड़ते हैं। जो मनुष्य धर्म का आचरण करता है उसके समय का सदुपयोग हुआ मानना चाहिये क्योंकि उससे नये कर्म नहीं बँधते और जो बँधे हुए हैं उनका भी क्षय हो जाता है। परिणामस्वरूप उसकी भव-परम्परा का अन्त आ जाता है और वह सर्वदुःखों से मुक्त हो जाता है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥६॥

[द० अ० १, गा० १]

धर्म उत्कृष्ट मङ्गल है। वह अहिंसा संयम और तपरूप है। जिसके मन में सदा ऐसा धर्म है उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।

विवेचन—इस जगत् में मनुष्य मात्र सदा सर्वदा मंगल की कामना किया करते हैं। किन्तु उनको यह स्मरण नहीं होता कि उत्कृष्ट मंगल तो धर्म ही है क्योंकि धर्म से दुरित (पाप) दूर होते हैं और इच्छित फल की प्राप्ति होती है। यहाँ धर्म शब्द से अहिंसा, संयम और तप की त्रिपुटी समझना चाहिये। जहाँ किसी भी प्रकार की हिंसा होती है वहाँ धर्म नहीं रहता। जहाँ किसी भी

बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥८॥
[उत्त० अ० ६, गा० १३]

संसार से बाहर और सबसे ऊपर सिद्धशिला नामक जो स्थान है वहाँ पहुँचने का उद्देश्य रखकर ही कार्य करना चाहिये। विषय-भोग की आकांक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये। पहले जिन कर्मों का संचय किया हुआ है उनका क्षय करने के लिये ही यह देह धारण करनी चाहिये।

विवेचन—मोक्ष मे पहुँचने का अवसर केवल मनुष्यजन्म मे ही मिल सकता है। मानवजन्म अनन्त भवों में भ्रमण करने के पश्चात् अत्यन्त कष्ट से प्राप्त होता है। बुद्धिमान् लोगों को उपयुक्त तथ्य को लक्ष्य मे रखकर ही मोक्षप्राप्ति को अपना ध्येय बनाना चाहिये। यह शरीर भोग-विलास के लिये नहीं है बल्कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने के लिये है इस बात को पुनः पुनः अपने मन मे दृढ करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब यह बात पूर्णरूप से मन मे दृढ हो जाएगी तभी भोगासक्ति दूर होकर कर्मा-चरण करने का उत्साह होगा।

धम्मे हरए बम्भे संतितित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥९॥
[उत्त० अ० १२ गा० ४६]

मिथ्यात्व आदि दोषों से रहित और आत्म-प्रसन्नलेश्या से युक्त धर्म एक जलाशय है और ब्रह्मचर्य एक प्रकार का शान्ति-तीर्थ। इसमें स्नान करके मैं विमल विशुद्ध और सुशीतल होता हूँ। ठीक वैसे ही कर्मों का नाश करता हूँ।

विवेचन—कुछ मनुष्य नहाना-धोना और बाहर से शुद्ध रहने को ही धर्म मान बैठे हैं जबकि धर्म अन्तर की शुद्धि के साथ मुख्य सम्बन्ध रखता है। यह अन्तर की शुद्धि तभी प्राप्त होती है जब मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद कषायादि दोष दूर कर दिये जाते हैं और आत्मा के परिणामों को शुद्ध रखा जाता है।

आत्मा के परिणामों की योग्यता समझने के लिये भगवान् महावीर ने छह लेश्याओं का स्वरूप प्रकट किया है। उनमें कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन लेश्याएँ आत्मा के अशुद्धतम अशुद्धतर और अशुद्ध परिणामों का सूचन करनेवाली हैं तथा पीत, पद्म तथा शुक्ल—ये तीन लेश्याएँ आत्मा के शुद्ध—शुद्धतर—शुद्धतम परिणामों का सूचन करती हैं। अतः धर्माराधक को चाहिये कि वह सदा शुद्ध लेश्याओं में ही रहे।

धर्माराधना में ब्रह्मचर्य का महत्त्व भी बहुत है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसका मन शान्त विषय-विकार से दूर रहता है और उससे अनन्य शान्ति मिलती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के लोकोत्तर—उच्च धर्म का जो आचरण करता है, उसके सब मल दूर होते हैं उसकी सभी अशुद्धियाँ दूर होती हैं और उसके अन्तर के सारे ताप मिटकर

उसे अनुपम शान्ति मिलती है। ऐसी आत्मा के सब कर्म शीघ्रता से नष्ट हो जाय यह स्वाभाविक ही है।

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१०॥

[उत्त० अ० १८, गा० २५]

जो मनुष्य पापकर्ता है वह घोर नरक में जाता है और जो आर्य धर्म का आचरण करनेवाला है वह दिव्य गति में जाता है।

विवेचन—कर्म का नियम अबाधित है। उसमें किसी का अनुनय-विनय अथवा अनुरोध नहीं चलता। जो अनुचित काम करता है, अधर्माचरण करता है, पाप प्रवृत्ति में लीन रहता है उसे मृत्यु के पश्चात् भयङ्कर नरक-योनि में जन्म लेना पड़ता है और वहाँ उसे अवर्णनीय दुःख सहने पड़ते हैं। इसी तरह जो अच्छे कर्म करते हैं, आर्यधर्म का आचरण करते हैं अर्थात् दया-दान परोपकारादि प्रवृत्ति में लीन रहते हैं उन्हें मृत्यु के पश्चात् स्वर्गीय सुख अथवा सिद्धिगति प्राप्त होती है।

—: ० :—

धारा ११

अहिंसा

नाइवाइज्ज किंचण ॥१॥

[आ श्रु १ अ २ उ ३]

किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं ॥२॥

[आ श्रु १ अ २ उ ३]

(क्योंकि) सभी प्राणियों को अपना आयुष्य प्रिय है सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सब को प्रिय लगता है। जीवमात्र जीवित रहने की कामना करते हैं। सब को अपना जीवन प्रिय लगता है।

एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि ॥३॥

[आ श्रु १ अ २ उ ५]

आर्य महापुरुषों द्वारा अहिंसा के इस मार्ग का कथन किया गया है। अतः कुशल पुरुष [illegible] भी अपने को हिंसा से लिप्त न करे।

पणया वीरा महावीहिं ॥४॥

[आ सु. १ अ १ उ १]

कुशल पुरुष परीषह सहन करने मे सूर होते है और अहिंसा के प्रशस्त पथ पर चलनेवाले होते है।

अदुवा अदिन्नादाणं ॥५॥

[आ सु. १ अ १ उ १]

जीवों की हिंसा करना यह एक प्रकार का अदत्तादान है यानी चोरी है।

त से अहियाए, तं से अबोहिए ॥६॥

[आ सु १, अ १ उ॰ १]

पृथ्वीकायिक (आदि) जीवों की हिंसा हिंसक व्यक्ति के लिए सदा अहितकर होती है और अबोधि (अज्ञान मिथ्यात्व) का मुख्य कारण बनती है।

आयातुले पयासु ॥७॥

[सू सु १ अ ११ गा १]

प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो।

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मतिमं पडिलेहिया।

सव्वे अक्कन्तदुक्खाय, अओ सव्वे न हिंसया ॥८॥

[सू अ १ अ ११ गा ९]

बुद्धिमान् पुरुष को सर्व प्रकार की युक्तियों से सोच विचार कर तथा सभी प्राणियों को दुःख अच्छा नहीं लगता इस तथ्य को ध्यान मे रखकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥९॥
[सू० श्रु १ अ ११ गा १]

ज्ञानियों के वचन का यह सार है कि—'किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।' अहिंसा को ही शास्त्रकथित शाश्वत धर्म समझना चाहिए।

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि ॥१०॥
[सू श्रु १ अ १ गा १]

दुःख हिंसा से उत्पन्न हुए हैं, वैर को बढ़ाने तथा बढ़ानेवाले हैं और महाभयङ्कर हैं—ऐसा जानकर मतिमान् मनुष्य अपने आप को हिंसा से बचावे।

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढई अप्पणो ॥११॥
[सू श्रु १ अ १ उ १ गा ३]

परिग्रह में आसक्त मनुष्य स्वयं प्राणी का हनन करता है, दूसरे के द्वारा हनन करवाता है और हनन करनेवाले का अनुमोदन करता है—इस तरह अपना वैर बढ़ाता है।

विवेचन—जैसे-जैसे हिंसा का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वैर का भी विस्तार होता जाता है क्योंकि जिन जिन प्राणियों की हिंसा होती है वे सब बदला लेने के लिए हर घड़ी तत्पर रहते हैं अतः अपना हित चाहनेवाले व्यक्ति को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिये, न ही दूसरे के द्वारा हिंसा करवानी चाहिये। और यदि कोई हिंसा करता हो तो उसका अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये।

अप्पेलिसस्स लेयन्ने,
ण विरुज्झेज्ज केणइ ॥१२॥
[सू. श्रु १ अ १५, गा ११]

संयम में निपुण मनुष्य को किसी के भी साथ वैर विरोध नहीं करना चाहिए।

सया सच्चेण संपन्ने,
मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥१३॥
[सू श्रु १ अ १५, गा ३]

जिसकी अन्तरात्मा सदा सर्वदा सत्य भावों से ओतप्रोत है उसे सभी प्राणियों के साथ मित्रता रखनी चाहिए।

सव्वं जगं तू समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा ॥१४॥
[सू० श्रु १ अ १ गा० ७]

मुमुक्षु को चाहिये कि वह सारे जगत् अर्थात् सभी जीवों को

बुद्धिमान् मनुष्य उक्त षड्जीवनिकाय का सर्व प्रकार से सम्यग्-ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख से घबराते हैं' ऐसा मानकर उन्हें पीड़ा न पहुँचाए।

जे केइ तसा पाणा, चिट्ठन्ति अदु थावरा।
परियाए अत्थि से अञ्जू, जेण ते तस-थावरा ॥ १९ ॥
[सू० श्रु० १, अ० १ उ० ३, गा० ८]

जगत् में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, अपनी-अपनी पर्याय के कारण हैं। अर्थात् सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार त्रस अथवा स्थावर होते हैं।

उरालं जगओ जोगं,
विवज्जासं पलिन्ति य।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य,
अओ सव्वे अहिंसिया ॥२०॥
[सू० श्रु० १ अ० ३ गा० ९]

एक जीव जो एक जन्म में त्रस होता है वही दूसरे जन्म में स्थावर होता है। त्रस हो अथवा स्थावर, सभी जीवों को दुःख अप्रिय होता है ऐसा मानकर मुमुक्षु को सभी जीवों के प्रति अहिंसक बने रहना चाहिए।

उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरइं विज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥२१॥
[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ११]

ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यग्लोक इन तीनों लोकों में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं उनके प्राणों का अतिपात (विनाश) करने से दूर रहना चाहिये। वैर की शान्ति को ही निर्वाण कहा गया है।

विवेचन—ऊर्ध्वलोक अर्थात् ऊपर का भाग—स्वर्ग अधोलोक अर्थात् नीचे का भाग—पाताल और तिर्यग्लोक अर्थात् इन दोनों के बीच का भाग—मनुष्यलोक। जब किसी भी प्राणी के प्रति हृदय के एक अणु में भी वैर-वृत्ति नहीं रहेगी तभी निर्वाण की प्राप्ति हो गई, ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अहिंसा की पूर्णता ही निर्वाण है।

पभूदोसे निराकिच्चा,
न विरुज्झेज्ज केण वि।
मणसा वयसा चेव,
कायसा चेव अंतसो ॥ २२ ॥
[सू० श्रु० १ अ ११ गा १२]

इन्द्रियों को जीतनेवाला समर्थ पुरुष मिथ्यात्व आदि दोष दूर करके किसी भी प्राणी के साथ यावज्जीव मन वचन और काया से और विरोध न करे।

विरए गामधम्मेहिं, जे केइ जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए, थाम कुव्वं परिव्वए ॥ २३ ॥
[सू० श्रु० १ अ ११ गा ३३]

शब्दादि विषयों के प्रति उदासीन बने हुए मनुष्य को इस संसार में विद्यमान जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं उनको आत्मतुल्य मान उनकी रक्षा करने में अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिये और इसी प्रकार संयम का भी पालन करना चाहिये।

जे य बुद्धा अतिक्कंता
    जे य बुद्धा अणागया।
        संति तेसिं पइट्ठाणं,
            भूयाण जगई जहा ॥२४॥
                [सू० श्रु० १ अ० ११ गा० ३६]

जीवों का आधार-स्थान पृथ्वी है। वैसे ही भूत और भावी तीर्थङ्करों का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिंसा है। तात्पर्य यह है कि तीर्थङ्करों को इतना ऊँचा पद अहिंसा के उत्कृष्ट पालन से ही प्राप्त होता है।

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ,
    तण-रुक्ख-बीया य तसा य पाणा।
जे अण्डया जे य जराउ पाणा,
    संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥ २५ ॥
एयाइं कायाइं पवेइयाइं,
    एएसु जाणे पडिलेह सायं।

एएण काएण य आयदण्डे,

एएसु या विप्परियासुविन्ति ॥२६॥

[सू० श्रु० १ अ० ७, गा० १-२]

(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) तृण, वृक्ष बीज आदि वनस्पति तथा (६) अण्डज, जरायुज स्वेदज रसज—इन सभी त्रस प्राणियों को ज्ञानियों ने जीवसमूह कहा है। इन सब में सुख की इच्छा है यह जानो और समझो।

जो इन जीवकायों का नाश करके पाप का संचय करता है वह बारबार इन्हीं प्राणियों में जन्म धारण करता है।

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।

न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥ २७ ॥

[उत्त० अ० ६, गा० ७]

सभी सुख-दुखों का मूल अपने हृदय में है, यों मानकर तथा प्राणिमात्र को अपने अपने प्राण प्यारे हैं, ऐसा समझकर भय और वैर से निवृत्त होते हुए किसी भी प्राणी की हिंसा न करना।

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।

पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥ २८ ॥

[उत्त० अ० १९ गा० २५]

शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव रखना ही अहिंसा कहलाती है। आजीवन किसी भी प्राणी की मन-वचन-काया से हिंसा न करना यह वस्तुतः दुष्कर व्रत है।

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥२१॥
[उ० अ० १८, गा० ११]

हे पार्थिव। तुझे अभय है। तू भी अभयदाता बन। इस अशाश्वत संसार में जीवों की हिंसा के लिए तू क्यों आसक्त हो रहा है?

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥२२॥
[उत्त० अ० ८, गा० १]

संसार में त्रस और स्थावर जितने भी जीव हैं उनके प्रति मन वचन और काया से दण्ड-प्रयोग नहीं करना।

विवेचन—कोई भी प्राणी हमें पीड़ित करे, हमें सतायें अथवा हमारे मार्ग में विघ्नभूत हो तो भी उसे दण्डित करने का—उसकी हिंसा करने का विचार मन, वचन तथा काया से कदापि नहीं करना चाहिये। यह हमारा व्यवहार जब पीड़ा पहुँचानेवाले आदि के प्रति भी उचित है तब जिसने हमारा कभी कुछ नहीं बिगाड़ा अथवा हमें किंचित् भी रूप में कोई क्षति नहीं पहुँचाई—उसे सजा क्योंकर दण्ड दे सकते हैं? तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु को मन, वचन और काया से अहिंसा का पालन करना चाहिये।

सयम्याइ एगे वयमाणा,
पाणवहं मिया अयाणंता।

मन्दा निरयं गच्छन्ति,
बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥२१॥
[उत्त अ ८, गा ७]

'हम श्रमण हैं' ऐसा कहनेवाला और प्राणिहिंसा में पाप नहीं माननेवाले मन्दबुद्धि मूढ़ अज्ञानी जीव अपनी पापदृष्टि से ही नरक में जाते हैं।

न हु पाणवहं अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाई सव्वदुक्खाणं।
एवारिएहिमक्खायं,
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥२२॥
[उत्त अ ८, गा ८]

जो प्राणिहिंसा का अनुमोदन करता है, वह सर्वदुःखों से कदापि मुक्त नहीं हो सकता। ऐसा तीर्थङ्करों ने कहा है कि जिनके द्वारा यह साधुधर्म का प्रतिपादन किया गया है।

विवेचन—कहने का आशय यह है कि साधु स्वयं हिंसा न करे, दूसरों से भी हिंसा न करवाये और कोई हिंसा करता हो तो उसकी अनुमोदना भी न करे। यदि वह अनुमोदना करे तो उसका मोक्षप्राप्ति का ध्येय ही विफल हो जाता है।

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥२३॥
[दश अ ६, गा ९]

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥२१॥
[उ० अ० १८, गा० ११]

हे पार्थिव ! तुझे अभय है। तू भी अभयदाता बन। इस क्षणभंगुर संसार में जीवों की हिंसा के लिए तू क्यों आसक्त हो रहा है ?

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥२२॥
[उ० अ० ८, गा० १]

संसार में त्रस और स्थावर जितने भी जीव हैं उनके प्रति मन वचन और काया से दण्ड प्रयोग नहीं करना।

विवेचन—कोई भी प्राणी हमें पीड़ित करें हमें सताये अथवा हमारे मार्ग में विघ्नभूत हो तो भी उसे दण्डित करने का—उसकी हिंसा करने का विचार मन वचन तथा काया से कदापि नहीं करना चाहिये। यह हमारा व्यवहार जब पीड़ा पहुँचानेवाले आदि के प्रति भी उचित है तब जिसने हमारा कभी कुछ नहीं बिगाड़ा अथवा हमें किसी भी रूप में कोई क्षति नहीं पहुँचाई—उसे मला क्योंकर दण्ड दे सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु को मन वचन और काया से अहिंसा का पालन करना चाहिये।

ममणाइ एगे वयमाणा,
पाणवहं मिया अयाणंता।

भगवान् महावीर ने सभी धर्मस्थानों में प्रमुख स्थान अहिंसा को दिया है। सर्व प्राणियों के साथ संयमपूर्ण व्यवहार रखना इसे उन्होंने उत्तम प्रकार की अहिंसा कही है।

जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए ॥१४॥
[दश० अ० ६, गा० ९]

इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं उनकी जाने-अनजाने हिंसा नहीं करना, और दूसरों के द्वारा भी हिंसा नहीं करवाना।

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१५॥
[दश० अ० ६, गा० १०]

सभी जीव जीना चाहते हैं कोई मरना नहीं चाहता। अतः निर्ग्रन्थ मुनि सदा भयङ्कर ऐसी प्राणिहिंसा का परित्याग करते हैं।

विवेचन—निर्ग्रन्थ मुनि अर्थात् जैन श्रमण। भयङ्कर अर्थात् परिणाम में भयङ्कर। प्राणिवध अर्थात् जीवहिंसा किसी को घातना अथवा मारना।

तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए ॥१६॥
[दश० अ० ८, गा० ३]

सब जीवों के प्रति सदा अहिंसक वृत्ति से रहना। जो कोई मन वचन और काया से अहिंसक रहता है, वही आदर्श संयमी है।

अजयं चरमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२७॥

असावधानी से चलनेवाला मनुष्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं चिट्ठमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२८॥

असावधानी से खड़ा रहनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं आसमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२९॥

असावधानी से बैठनेवाला मनुष्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं सयमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३०॥

असावधानी से सोनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं भुंजमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४१॥

असावधानी से भोजन करनेवाला मनुष्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं भासमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४२॥

[दश० अ० ४ गा० १ से ६]

असावधानी से बोलनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

धारा १२

सत्य

तं सच्चं भगवं ॥ १ ॥

[प्रश्न० द्वितीय संवरद्वार]

यह सत्य भगवान है।

पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ॥ २ ॥

[आ० श्रु० १ अ० ३ उ० ३]

हे पुरुष! तू सत्य को ही वास्तविक तत्त्व जान। सत्य की आज्ञा में रहनेवाला वह बुद्धिमान मनुष्य मृत्यु को तैर जाता है।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया नो वि अन्नं वयावए ॥३॥

[दश० अ० ६, गा० ११]

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरे के काम के लिये क्रोध से अथवा भय से किसी की हिंसा हो ऐसा असत्य वचन खुद नहीं बोलना चाहिये ठीक वैसे ही दूसरे से भी नहीं बुलवाना चाहिये।

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥४॥

[दश० अ० ६, गा० १२]

इस जगत मे सभी साधु पुरुषों ने मृषावाद अर्थात् असत्य वचन की घोर निन्दा की है क्योंकि यह मनुष्यों के मन मे अविश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतः असत्य वचन का परित्याग करना चाहिये।

न लविज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥५॥

[उत्त० अ १ गा २५]

यदि कोई पूछे तो अपने लिये अथवा अन्य के लिये अथवा दोनों के लिए, स्वप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन पापी एवं निरर्थक वचन नहीं बोलना चाहिये। न मर्मभेदी वचन ही बोलना चाहिये।

आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि ।
कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ॥६॥

[उत्त० अ १ गा ११]

यदि क्रोध के कारण कभी मुँह से असत्य वचन निकल पड़े तो उसे छिपाये नहीं। यदि असत्य वचन बोल चुके हों तो वैसा साफ-साफ कह देना चाहिये और नहीं बोला हो तो वैसा कहना चाहिये। अर्थात् किये हुए को किया हुआ और नहीं किये हुए को नहीं किया हुआ कहना जरूरी है। इस तरह सदा सत्य बोलना चाहिये।

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ॥७॥

[दश० अ ७, गा १]

प्रज्ञावान् साधक चार प्रकार की भाषाओं के स्वरूप को जानकर उनमें से दो प्रकार की भाषा द्वारा विनय (आचार) सीखे ; और दो प्रकार की भाषाओं का कदापि उपयोग न करे ।

विवेचन—भाषा के चार प्रकार हैं :—(१) सत्य (२) असत्य (३) सत्यासत्य अर्थात् मिश्र और (४) असत्यामृषा अर्थात् व्यावहारिक । इनमें से प्रथम और अन्तिम इन दो भाषाओं का साधक विनयपूर्वक व्यवहार करे और असत्य तथा मिश्र भाषा का सर्वथा परित्याग करे ।

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिऽनाइन्ना, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥८॥

[दश० अ० ७ गा० २]

जो भाषा सत्य होने पर भी बोलने योग्य न हो जो भाषा सत्य और असत्य के मिश्रणवाली हो जो भाषा असत्य हो और जिस भाषा का तीर्थङ्करों ने निषेध किया हो—ऐसी भाषा का प्रयोग प्रज्ञावान् साधक को नहीं करना चाहिये ।

विवेचन—ऊपर की सातवीं गाथा में सत्य और व्यावहारिक भाषा बोलने के सम्बन्ध में कहा गया है । उसमें भी बहुत कुछ बात समझने योग्य है । उसीका स्पष्टीकरण प्रस्तुत गाथा में किया गया है । भाषा सत्य हो किन्तु बोलने जैसी न हो अर्थात् जिसके बोलने से हिंसा अथवा अन्य किसी की हानि होने जैसी स्थिति हो तो वैसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये । उदाहरण के लिये—बाजार में जाते हुए यदि कोई कसाई-वधिक पूछे, मेरी गाय को देखा है ?"

तो गाय को जाती हुई देखने पर उत्तरदाता ऐसा कह दे—"हाँ मैंने देखी है वह उस ओर गई है।" तो परिणामस्वरूप हिंसा होना सम्भव है, क्योंकि कसाई उस दिशा में जाकर गाय को पकड़ लायगा और फिर उसका वध करेगा। अतः ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिये।

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥९॥
[दश० अ० ७, गा० ३]

व्यावहारिक भाषा तथा सत्य भाषा भी जो पापरहित हो सर्वथा से मुक्त (कोमल) हो, निःसन्देह हो तथा स्व-पर का उपकार करनेवाली हो ऐसी भाषा का ही प्रयोग प्रज्ञावान् साधक को करना चाहिये।

वितहं वि तहामुत्ति, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥१०॥
[दश० अ० ७, गा० ५]

जो मनुष्य प्रकट सत्य को भी वास्तविक असत्य के रूप में मुख से बोल जाय तो वह पाप का भागी बनता है तब सर्वथा असत्य बोलनेवाले का तो कहना ही क्या? वह अनन्त पापों का भागी बनता है।

तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥११॥
[दश० अ० ७, गा० ११]

इसी तरह सत्यभाषा भी अगर अनेकविध प्राणियों की हिंसा का कारण बनती हो अथवा कठोर हो तो कभी नहीं बोलनी चाहिये क्योंकि उससे पाप का आगमन होता है ।

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१२॥
[दश० अ० ७, गा० १२]

ठीक इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि यह सब सत्य होने पर भी सुनने में अत्यन्त कठोर लगता है ।

एएणऽन्नेण अट्ठेण, परो जेणुवहम्मइ ।
आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१३॥
[दश० अ० ७, गा० १३]

अतः प्रज्ञावान् साधक आचार और भाव के गुण-दोषों को परख कर उपयुक्त तथा दूसरे के हृदय को आघात पहुँचानेवाली भाषा का प्रयोग न करे ।

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥१४॥
[दश० अ० ७, गा० ५४]

इसी प्रकार प्रज्ञावान् साधक क्रोध, लोभ, भय हास्य अथवा विनोद में पापकारिणी पाप का अनुमोदन करनेवाली निश्चयकारिणी और दूसरे के मन को दुःख पहुँचानेवाली भाषा बोलना छोड़ दे।

सुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि ॥१४॥
[दश० अ० ९ उ० ३ गा०]

यदि हमें लोहे का काँटा चुभ जाय तो वहीं दो घड़ी ही दुःख होता है और वह भी सरलता से निकाला जा सकता है, परन्तु अशुभ वाणीरूपी काँटा हृदय में एक बार चुभ जाने पर सरलता से नहीं निकाला जा सकता साथ ही वह चिरकाल के लिए वैरानुबन्ध करनेवाला तथा महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं विअं जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥१६॥
[दश० अ० ८, गा० ४८]

आत्मार्थी साधक को चाहिये कि वह दृष्ट, परिमित असन्दिग्ध, परिपूर्ण स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता-रहित और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली ऐसी वाणी का उपयोग करे।

मासाइ हासे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।

एसु सवए सामणिए सया जए,

वएज्ज बुद्ध हियमाणुलोमियं ॥१७॥

[द० अ ७, गा ५६]

भाषा के दोष और गुणों को जानकर उसके दोषों को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये। छह काय के जीवों का यथार्थ संयम पालने वाले और सदा सावधानी से वर्तन करनेवाले ज्ञानी साधक हमेशा परहितकारी तथा मधुर भाषा का ही प्रयोग करे।

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,

गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।

मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,

सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥१८॥

[द० अ ७, गा ५५]

मुनि हमेशा वचनशुद्धि का विचार करे और दुष्ट भाषा का सदा के लिये परित्याग करे। यदि अदुष्ट भाषा बोलने का अवसर भी आ जाय तो वह परिमित एवं विचारपूर्वक बोले। ऐसा बोलनेवाला सन्त पुरुषों की प्रशंसा का पात्र बनता है।

अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो।

सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहियगामिणिं ॥१९॥

[दश० अ ८, गा ४७]

जिससे अविश्वास पैदा हो अथवा दूसरे को जल्दी से क्रोध आ जाय ऐसी अहितकर भाषा का विवेकी पुरुष कदापि प्रयोग न करे।

इसी प्रकार प्रज्ञावान् साधक क्रोध, लोभ, भय, हास्य अथवा विनोद में पापकारिणी, पाप का अनुमोदन करनेवाली, निश्चयकारिणी और दूसरे के मन को दुःख पहुँचानेवाली भाषा बोलना छोड़ दे।

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि ॥१५॥

[दश० अ० ९ उ० ३ गा० ७]

यदि हमें लोहे का काँटा चुभ जाय तो थोड़े ही समय ही दुःख होता है और वह भी सरलता से निकाला जा सकता है, परन्तु अशुभ वाणीरूपी काँटा हृदय में एक बार चुभ जाने पर सरलता से नहीं निकाला जा सकता, साथ ही वह चिरकाल के लिए वैरानुबन्ध करनेवाला तथा महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं विय जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥१६॥

[दश० अ० ८, गा० ४९]

आत्मार्थी साधक को चाहिये कि वह दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता-रहित और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली ऐसी वाणी का उपयोग करे।

भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।

(६) प्रतीत-सत्य, (७) व्यवहार-सत्य (८) भाव-सत्य (९) योग-सत्य और (१०) उपमा-सत्य।

विवेचन—दशवैकालिक-नियुक्ति में इन दस प्रकार के सत्य-वचनयोग की जानकारी इस प्रकार दी है :—

१ : जनपद-सत्य—जिस देश में जैसी भाषा बोली जाती हो वैसी भाषा बोलना उसे जनपद-सत्य कहते हैं। जैसे कि 'बिल' शब्द से हिन्दी भाषा में चूहे-सर्प आदि का निवास-स्थान समझा जाता है जबकि अंग्रेजी भाषा में 'बिल' शब्द से मूल्य-पत्रक [की हुई सेवा के मूल्य का पत्रक] अथवा किसी नियम की स्थापना का पत्रक समझा जाता है।

२ : सम्मत-सत्य—पूर्वाचार्यों ने जिस शब्द को जिस अर्थ में माना है उस शब्द को उसी अर्थ में मान्य रखना यह है 'सम्मत-सत्य'। जैसे कि कमल और मेढक दोनों ही कीचड़ में उत्पन्न होते हैं तथापि पंकज शब्द कमल के लिये ही प्रयुक्त होता है न कि मेढक के लिये।

३ : स्थापना-सत्य—किसी भी वस्तु की स्थापना कर उसे उस नाम से पहिचानना यह है 'स्थापना-सत्य'। जैसे कि ऐसी आकृति वाले अक्षर को ही 'क' कहना। एक के ऊपर दो बिन्दु और लगा देने से 'सौ' और तीन शून्य लगा देने तो उसे 'हजार' कहना आदि।
[को 'हाथी' 'ऊँट' 'घोड़ा' आदि कहना यह भी

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥२०॥

[दश० अ० ७, गा० ५०]

देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्चों में जब परस्पर युद्ध हो तब इसकी जय हो और इसकी पराजय हो ऐसा नहीं बोलना चाहिये।

विवेचन—क्योंकि इस प्रकार के वचनोच्चार से एक प्रसन्न होता है और दूसरा रुष्ट। ऐसी दुष्कर परिस्थिति उपस्थित करना प्रज्ञावान् साधक के लिये उपयुक्त नहीं है।

अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥२१॥

[दश० अ० ८, गा० ४७]

संयमी साधक बिना पूछे उत्तर न दे, अन्य लोग बातें करते हों तो उनके बीच में न बोले पीठ पीछे किसी की निन्दा न करे तथा बोलने में कपटयुक्त असत्यवाणी का प्रयोग न करे।

जणवयसम्मयठवणा,
नामे रूवे पडुच्चे सच्चे य।
ववहारभावजोगे,
दसमे ओवम्मसच्चे य ॥२२॥

[प्रज्ञापना सूत्र-भाषा पद]

सत्यवचनयोग के दस प्रकार हैं :—(१) जनपद-सत्य (२) सम्मत-सत्य, (३) स्थापना-सत्य (४) नाम-सत्य (५) रूप-सत्य,

(६) प्रतीत-सत्य, (७) व्यवहार-सत्य (८) भाव-सत्य (९) योग-सत्य और (१०) उपमा-सत्य।

विवेचन—दशवैकालिक-नियुक्ति में इन दस प्रकार के सत्य-वचनयोग की जानकारी इस प्रकार दी है :—

१ : जनपद-सत्य—जिस देश मे जैसी भाषा बोली जाती हो वैसी भाषा बोलना उसे जनपद-सत्य कहते हैं। जैसे कि 'बिल' शब्द से हिन्दी भाषा में चूहे सर्प आदि का निवास-स्थान समझा जाता है, जबकि अंग्रेजी भाषा मे 'बिल' शब्द से मूल्य-पत्रक [की हुई सेवा के मूल्य का पत्रक] अथवा किसी नियम की स्थापना का पत्रक समझा जाता है।

२ : सम्मत-सत्य—पूर्वाचार्यों ने जिस शब्द को जिस अर्थ में माना है उस शब्द को उसी अर्थ मे मान्य रखना यह है 'सम्मत-सत्य'। जैसे कि कमल और मेंढक दोनों ही कीचड़ में उत्पन्न होते हैं तथापि पङ्कज शब्द कमल के लिए ही प्रयुक्त होता है न कि मेंढक के लिये।

३ : स्थापना-सत्य—किसी भी वस्तु की स्थापना कर उसे इस नाम से पहिचानना यह है 'स्थापना-सत्य'। जैसे कि एसी आकृति-वाले अक्षर को ही 'क' कहना। एक के ऊपर दो बिन्दु और लगा देने से 'सौ' और तीन शून्य जोड़ देने से उसे 'हजार' कहना आदि। शतरंज के मुहरों को 'हाथी' 'ऊंट' 'घोड़ा' आदि कहना यह भी इसीमें आता है।

४ : नाम-सत्य—गुण विहीन होने पर भी किसी व्यक्ति अथवा वस्तुविशेष का नाम निर्धारित करना 'नाम-सत्य' कहलाता है। जैसे एक बालक का जन्म किसी गरीब घर में होने पर भी उसका नाम रख लिया जाता है 'लक्ष्मीचन्द्र'।

५ : रूप-सत्य—किसी विशेष रूप के धारण कर लेने पर उसे उसी नाम से सम्बोधित किया जाता है। जैसे कि साधु का वेष पहने हुए देखने पर उसे 'साधु' कहा जाता है।

६ : प्रतीत-सत्य—(अपेक्षा-सत्य) एक वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु को बड़ी भारी हलकी आदि कहना यह 'प्रतीत-सत्य' है। जैसे कि—अनामिका की अंगुली बड़ी है यह बात कनिष्ठा की अपेक्षा से सत्य है परन्तु मध्यागुली की अपेक्षा वह छोटी है।

(७) व्यवहार-सत्य—(लोक-सत्य)—जो बात व्यवहार में बोली जाय वह 'व्यवहार-सत्य'। जैसे कि गाड़ी कलकत्ता पहुँचती है तब कहा जाता है कि कलकत्ता आ गया। रास्ता अथवा मार्ग स्थिर है वह चल तो सकता नहीं फिर भी कहा जाता है कि यह मार्ग जाता है। इसी प्रकार घर से स्थिर पात्र झरता है तथापि कहा जाता है कि घर चल रहा है।

(८) भाव-सत्य—जिस वस्तु में जो भाव प्रधानरूप में दिखाई पड़ता हो, उसे लक्ष्य में रख युक्त वस्तु का प्रतिपादन करना 'भाव सत्य' कहलाता है। जितने ही पदार्थों में पाँचों रंग न्यूनाधिक प्रमाण में रहने पर भी उन रंगों की प्रधानता मानकर उसका पीला

आदि कहा जाता है। जैसे तोते में अनेक रंग होने पर भी उसे हरे रंग का ही कहते हैं यह है 'भाव-सत्य'।

(९) *योग-सत्य*—योग अर्थात् सम्बन्ध से किसी व्यक्ति अथवा वस्तु को पहचानना वह 'योग-सत्य' कहलाता है। जैसे कि अध्यापक को अध्यापन-काल के अतिरिक्त समय में भी अध्यापक कहा जाता है।

(१०) उपमा-सत्य—किसी एक प्रकार की समानता हो उसके आधार पर उस वस्तु की अन्य वस्तु के साथ तुलना करना और उसे तदनुसारी नाम से पहचानना वह उपमा-सत्य कहलाता है। जैसे कि 'चरण-कमल' 'मुख-चन्द्र' 'वाणी-सुधा' आदि।

कोहे माणे माया, लोभे पेज्जे तहेव दोसे य।
हासे भए अक्खाइय, उवघाए निस्सिया दसमा ॥२३॥

[प्रज्ञापनासूत्र-भाषापद]

क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष हास्य तथा भयभीत होकर बोली जानेवाली भाषा कल्पित व्याख्या तथा दसवें उपघात (हिंसा) का आश्रय लेकर जिस भाषा का उपयोग किया जाय वह असत्य भाषा कहलाती है।

—

अस्तेय

पंचविहा पण्णत्तो, जिणेहिं इह अण्हआ अणादीओ।
हिंसामोसमदत्तं, अब्भमपरिग्गह चेव ॥ १ ॥

[प्रश्न० द्वार १ गा० १]

जिन भगवन्तों ने आस्रव को अनादि तथा पाँच प्रकार का कहा है : (१) हिंसा, (२) मृषावाद (३) अदत्त (४ अब्रह्म और (५) परिग्रह।

विवेचन—जिसके द्वारा आत्मप्रदेशों की ओर कर्मवर्गणा का आकर्षण हो उसे आस्रव कहते हैं। यह प्रवाह से अनादि है। हिंसादि पाँच प्रकार के पाप के कारण उसका आगमन होता है। इनमें से हिंसा को रोकने के लिये प्राणातिपात विरमणव्रत अर्थात् अहिंसा-व्रत मृषावाद को रोकने के लिये मृषावादविरमणव्रत अर्थात् सत्यव्रत, तथा अदत्तादान की निवृत्ति के लिये अदत्तादानविरमणव्रत अर्थात् अस्तेयव्रत बना है। इसी प्रकार अब्रह्म को रोकने के लिये मैथुन-विरमणव्रत और परिग्रह को रोकने के लिये परिग्रह विरमणव्रत है।

दव्यं च अदत्तादाणं हरदहमरणभयकलुसतासपर
संतिमऽभेज्ज लोभमूलं "अकित्तिकरणं अणज्जं"

साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं राग-दोसबहुलं ॥ २ ॥

[प्रश्न० द्वार ३, सूत्र १]

तीसरा अदत्तादान दूसरों के हृदय को दाह पहुँचानेवाला, मरण-भय पाप कष्ट तथा परद्रव्य की लिप्सा का कारण और लोभ का मूल है। यह अपयशकारक है अनार्य कर्म है साधु-पुरुषों द्वारा निन्दित है प्रियजन और मित्रजनों में भेद करानेवाला है और अनेकविध रागद्वेष को जन्म देनेवाला है।

विवेचन—प्रश्नव्याकरण सूत्र के तृतीय द्वार में स्तेय के तीस नाम गिनाये हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार समझने चाहिये :—
(१) चोरी (२) अदत्त, (३) परलाभ (४) असंयम (५) परधनगृद्धि (६) लौल्य (७) तस्करत्व (८) अपहार (९) पापकर्मकरण (१०) कूटतुल-कूटमान (११) परद्रव्याकांक्षा (१२) तृष्णा आदि।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥ ३ ॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥ ४ ॥

[दश० अ ६, गा० १३-१४]

वस्तु सजीव हो या निर्जीव कम हो या ज्यादा यहां तक कि यदि कुरेदने की सलाई के समान तुच्छ वस्तु भी उसके स्वामी को पूछे बिना संयमी पुरुष स्वयं लेते नहीं दूसरे से दिलाते नहीं तथा जो कोई लेता हो उसे अनुमति देते नहीं।

निच्चं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥४॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ५, उ० १ गा० ४]

जो मनुष्य अपने सुख के लिये त्रस तथा स्थावर प्राणियों की निरन्तर हिंसा करता रहता है और जो दूसरे की वस्तुएँ बिना पूछे अपने पास रख लेता है अर्थात् चुरा लेता है वह आचरणीय व्रतों का तनिक भी पालन नहीं कर सकता।

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥६॥

[सू० श्रु० १ अ० १० गा० २]

आत्मार्थी पुरुष को चाहिये कि वह ऊपर, नीचे और तिरछी दिशाओं में जहाँ त्रस और स्थावर जीव रहते हैं उन्हें हाथ-पैरों के आन्दोलन से अथवा अन्य अंगों द्वारा किसी प्रकार की यातना न पहुँचाते हुए संयम से रहे तथा दूसरे द्वारा नहीं दी गई वस्तु ग्रहण न करे अर्थात् अदत्तादान न करे।

दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥७॥

[उत्त अ १९ गा २८]

दाँत कुरेदने का तिनका भी उसके मालिक के दिये बिना ग्रहण नही करना साथ ही निरवद्य और एषणीय वस्तुएँ ही ग्रहण करना—ये दोनों बातें अत्यन्त दुष्कर है।

विवेचन—निरवद्य अर्थात् पापरहित । एषणीय वस्तुए अर्थात् साधुधर्म के नियमानुसार उपयोग में ली जायँ ऐसी वस्तुएँ ।

रूवे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥८॥

[उत्त अ ३२, गा० २९]

मनोहररूप ग्रहण करनेवाला जीव अतृप्त ही रहता है। उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है, इसलिए तुष्टि—तृप्ति नही होती । असन्तोष से दु:खित होकर वह दूसरे की सुन्दर वस्तुओं का लोभी बनकर अदत्त ग्रहण करता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥१॥
[उत्त० अ० ३२ गा० ३०]

रूप के सम्बन्ध में असन्तुष्ट बना हुआ जीव तृष्णा के वशीभूत होकर अदत्त का हरण करता है और इस तरह प्राप्त वस्तु के रक्षणार्थ लोभदोष में फँसकर कपट क्रिया द्वारा असत्य बोलता है। इन कारणों से वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

धारा १४

ब्रह्मचर्य

लोगुत्तम च वयमिण ॥१॥

[प्रश्न संवरद्वार ४ सूत्र १]

यह व्रत लोकोत्तम है ।

बंभचेर उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं ॥२॥

[प्रश्न० संवरद्वार ४ सूत्र १]

ब्रह्मचर्य उत्तम तप नियम, ज्ञान दर्शन चारित्र, संयम और विनय का मूल है ।

एक्के पि बंभचेरे जमिय आराहियं पि, आराहियं वयमिण सव्वं तम्हा निउएण बंभचेर चरियव्वं ॥३॥

[प्रश्न संवरद्वार ४, सूत्र १]

जिसने अपने जीवन में एक ही ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना की हो उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों की आराधना की है—ऐसा समझना चाहिये । अतः निपुण साधक को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये ।

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं ॥२॥

[सू० श्रु० १ अ० ६, गा० २३]

अथवा तप में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

विरइ अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।

उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥३॥

[उत्त० अ० १९, गा० २९]

कामभोग का रस जाननेवालों के लिए मैथुन-त्याग और उग्र ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने का कार्य अति कठिन है।

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स,

संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।

नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,

जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥४॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १७]

मोक्षार्थी संसारभीरु और धर्मनिष्ठ पुरुषों के लिये इस संसार में बाल जीवों का मन हरण करनेवाली स्त्रियों का परित्याग करने जितना मुश्किल कार्य दूसरा कोई नहीं है।

एए य संगे समइक्कमित्ता,

सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।

जहा महासागरमुत्तरित्ता,

नई भवे अवि गंगासमाणा ॥५॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १८]

जैसे महासागर को तैर जानेवाले के लिये गङ्गा नदी तैर जाना सुगम है ठीक वैसे ही स्त्री-संसर्ग का त्याग करनेवालों के लिये अन्य वस्तुओं का त्याग करना अत्यन्त सरल है।

जो रक्खसीसु गिज्झेज्जा,
गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेल्लंति जहा व दासेहिं ॥८॥

[उत्त० अ० ८, गा० १८]

जिस तरह कोई राक्षसी किसी का सारा रक्त चूसकर उसके प्राण हर लेती है ठीक उसी तरह पुष्ट स्तनवाली तथा अनेकों का ध्यान चित्त मे धारण करनेवाली स्त्रियाँ साधक के ज्ञान-दर्शन आदि सब का अपहरण कर उसकी साधना का नाश कर देती हैं। ऐसी स्त्री सर्वप्रथम पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करती है और बाद में उनसे आज्ञाकारी दास के समान कार्य करवाती है।

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
नाऽऽयरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥९॥

[दश० अ० ६, गा० १५]

संयम का भंग करनेवाले रमणीय स्थानों से दूर रहनेवाले साधु-पुरुष साधारण जन-समूह के लिये अत्यन्त दुःसाध्य प्रमाद के कारण-रूप और महान् भयङ्कर ऐसे अब्रह्मचर्य का सपने में भी सेवन नहीं करते।

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणससग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१०॥
[दश अ ६, गा० १६]

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महान् दोषों का स्थान है। अतः निर्ग्रन्थ मुनि उसका सदा त्याग करते हैं।

इत्थिओ जे न सेवन्ति, आइमोक्खा हु ते जणा ॥११॥
[सू० श्रु० १ अ १५, उ० ९]

जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते, वे मोक्ष-मार्ग में अग्रगण्य होते हैं।

विवेचन—इसी प्रकार जो स्त्रियाँ पुरुष-सेवन नहीं करतीं वे भी मोक्ष-मार्ग में अग्रगण्य होती हैं। ब्रह्मचर्यव्रत पुरुष तथा स्त्री—दोनों के लिये समान रूप से हितकर है।

जे विन्नवणाहिऽजोसिया,
संतिण्णेहि समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा,
अदक्खु कामाइं रोगवं ॥१२॥
[सू० श्रु० १ अ २ उ ३ गा० २]

काम को रोगरूप समझकर जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते, वे मुक्त पुरुष के समान ही हैं। स्त्री-त्याग के पश्चात् ही मोक्ष-दर्शन सुलभ है।

जहिं नारीणं संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥१३॥
[सू० श्रु० १ अ० ३, उ० ४ गा० १७]

जिन पुरुषों ने स्त्रीसंसर्ग और शरीरशोभा को तिलाञ्जलि दे दी है वे समस्त विघ्नों को जीतकर उत्तम समाधि में निवास करते हैं।

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं ॥१४॥
[उत्त० अ० १६ गा० १६]

अत्यन्त दुष्कर ऐसे ब्रह्मचर्यव्रत की साधना करनेवाले ब्रह्मचारी को देव, दानव गन्धर्व यक्ष राक्षस किन्नरादि सभी देवी-देवता नमस्कार करते हैं।

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहाऽवरे ॥१५॥
[उत्त० अ० १६ गा० १७]

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है नित्य है शाश्वत है और जिन देशित है अर्थात् जिनों द्वारा उपदिष्ट है। इसी धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध बन गये बन रहे हैं और भविष्य में भी बनेंगे।

पाउग्ग आलमच्चाए, पिया सागंमि इत्थओ ॥१६॥
[सू० श्रु० १ अ० १५ गा० ८]

जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को पार कर जाता है वैसे ही महापराक्रमी पुरुष इस लोक में स्त्री-मोह की सीमा का उल्लंघन कर जाते हैं।

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१०॥
[दश० अ० ६, गा० १६]

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महान् दोषों का स्थान है। अतः निर्ग्रन्थ मुनि उसका सदा त्याग करते हैं।

इत्थिओ जे न सेवन्ति, आइमोक्खा हु ते जणा ॥११॥
[सू० श्रु० १ अ० १५, गा० ९]

जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते वे मोक्ष-मार्ग में अग्रगण्य होते हैं।

विवेचन—इसी प्रकार जो स्त्रियाँ पुरुष-सेवन नहीं करती वे भी मोक्ष-मार्ग में अग्रगण्य होती हैं। ब्रह्मचर्यव्रत पुरुष तथा स्त्री—दोनों के लिये समान रूप से हितकर है।

जे विन्नवणाहिजोसिया,
संतिण्णेहि समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा,
अदक्खु कामाई रोगवं ॥१२॥
[सू० श्रु० १ अ० २ उ० ३, गा० २]

काम को रोगरूप समझकर जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते वे मुक्त पुरुष के समान ही हैं। स्त्री-त्याग के पश्चात् ही मोक्ष-दर्शन सुलभ है।

(७) अधिक चिकने पदार्थों का सेवन (८) प्रमाण से अधिक आहार, (९) इच्छित शरीर-शोभा और (१०) दुर्जय कामभोग का सेवन—ये दस वस्तुएं आत्मार्थी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान हैं।

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं थीजणेण य।

बम्भचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥२१॥

[उत्त० अ० १६, गा० १]

मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये ऐसे स्थान में निवास करे, जहाँ एकान्त हो, जो कम बस्तीवाला हो और स्त्री आदि से रहित हो।

विवित्तसेज्जासणजंतियाणं,

ओमासणाणं दमिइंदियाणं।

न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,

पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥२२॥

[उत्त० अ० ३२ गा० १२]

जिस तरह सर्वोत्तम औषधियों से दूर की गई व्याधियाँ पुनः अपना सिर ऊपर नहीं उठाती अर्थात् पैदा नहीं होती ठीक उसी तरह विविक्त शय्या और आसन का सेवन करनेवाले अल्पाहारी तथा जितेन्द्रिय महापुरुषों के चित्त को राग और विषयरूपी कोई शत्रु सता नहीं सकता। वशम बना नहीं सकता।

मणपल्हायजणणी, कामराग-विवड्ढणी।

बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥२३॥

[उत्त० अ० १६, गा० २]

नीवारे व न लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले।
अणाइले सया दंते, संधिपत्ते अणेलिसं ॥१७॥
[सू श्रु १ अ १५, गा १२]

विषय-वासना तथा इन्द्रियों को जीतकर जो छिन्नस्रोत (संसार के प्रवाह को काटनेवाले) बन गये हैं साथ ही राग-द्वेष रहित हैं वे भूलकर भी कदापि स्त्रीमोह में न फंसे। क्योंकि स्त्री-मोह सूअर को फंसानेवाले चावल के दाने के समान है। जो पुरुष विषयभोग में अनासक्त और सदा-सर्वदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाला है वह अनुपम भावसन्धि (कर्मक्षय करने की मानसिक दशा) को प्राप्त होता है।

आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तेसिं इन्दियदरिसणं ॥१८॥
कूइयं रुइयं गीअं, हाससुत्तासिआणि य।
पणीअं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोअणं ॥१९॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥२०॥
[उत्त० अ १६, गा० ११-१२-१३]

(१) स्त्रियों से व्याप्त स्थान (२) स्त्रियों की मनोहर कथाए (३) स्त्रियों का परिचय, (४) स्त्रियों के अङ्गोपाग का निरीक्षण, (५) स्त्रियों के मधुर शब्द, रुदन गीत हंसी आदि का श्रवण (६) पूर्वकाल मे भुक्त भोगों तथा अनुभूतियों का स्मरण

नो सद्धियं पि विहरेज्जा,
एवमप्पा सुरक्खिओ होई ॥२६॥
[सू श्रु १ अ ४ उ १ गा० ५]

ब्रह्मचारी स्त्रियों पर कुदृष्टि न डाले। उनके साथ कुचेष्टा करने का साहस न करे। ठीक वैसे ही उनके साथ विहार अथवा एकान्तवास भी न करे। इस प्रकार स्त्री-सम्पर्क से बचनेवाला ब्रह्मचारी अपनी आत्मा को सुरक्षित रख सकता है।

जतुकुंभे जहा उवज्जोई,
संवासे विदू विसीएज्जा ॥ २७ ॥
[सू श्रु०१ अ ४ उ १ गा २६]

जैसे अग्नि के पास रहने से लाख का घड़ा पिघल जाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी स्त्री के सहवास से विषाद को प्राप्त होता है, अर्थात् उसका मन सक्षुब्ध बन जाता है।

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पियं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥२८॥
[दश अ ८, गा ५६]

जिस के हाथ-पैर कट चुके हों नाक-कान बेडौल बन गये हों तथा जो सौ वर्ष की आयु की हो गई हो ऐसी वृद्धा और कुरूप स्त्री का सम्पर्क भी ब्रह्मचारी को छोड़ देना चाहिये।

अहसेऽणुतप्पई पच्छा,
मोच्चा पायस व विसमिस्सं।

ब्रह्मचर्यपरायण साधक को चाहिए कि वह मन में विकार उत्पन्न करनेवाली तथा विषय-वासनादि की वृद्धि करनेवाली स्त्री-कथा का निरन्तर त्याग करे।

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥२४॥
[उत्त० अ० १६, गा० ३]

ब्रह्मचर्य में अनुराग रखनेवाले साधक स्त्रियों के परिचय और उनके साथ बैठकर बारबार वार्तालाप करने के अवसरों का सदा के लिए परित्याग कर दे।

कुव्वंति संथवं ताहिं,
पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा उ वज्जए इत्थी,
विसलित्तं व कण्टगं नच्चा ॥२५॥
[सू० श्रु० १ अ० ४ उ० १ गा० १६-११]

जो स्त्रियों के साथ परिचय रखता है, वह समाधियोग से भ्रष्ट हो जाता है। अतः स्त्रियों को विषलिप्त कंटक के समान समझकर ब्रह्मचारी उनका सम्पर्क छोड़ दे।

नो तासु चक्खु संधिज्जा,
नो वि य साहसं समभिजाणे।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥३२॥
[उत्त० अ० १६, गा० ४]

ब्रह्मचर्य में अनुराग रखनेवाले साधक को चाहिये कि वह स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यंग संस्थान मधुर भाषण तथा कटाक्ष का रसास्वादन करना छोड़ दें।

न रूवलावण्णविलासहासं
न जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥३३॥
[उत्त० अ० ३२, गा० १४]

तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप-लावण्य, विलास हास-परिहास भाषण-संभाषण, स्नेहचेष्टा अथवा कटाक्षयुक्त दृष्टि को अपने मन में स्थान न दे अथवा उसे देखने का प्रयास न करे।

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥३४॥
[दश० अ० ८, गा० ५४]

साधक शृङ्गारपूर्ण चित्रों से सुसज्जित दीवार तथा उत्तम रीति से अलंकृत ऐसी नारी की ओर टकटकी लगाकर देखने का प्रयास न करे। और किसपर भी यदि दृष्टि पड़ जाय तो उसे सूर्य पर पड़ी दृष्टि की तरह शीघ्र ही हटा ले।

एवं विवेगमायाय,
संवासो न वि कप्पए दविए ॥१९॥
[सू० श्रु० १ अ० ४ उ० १ गा० १]

विषमिश्रित भोजन करनेवाले मनुष्य की तरह ही स्त्री-समागम करनेवाले ब्रह्मचारी को बाद में बहुत पछताना पड़ता है। इसलिये प्रारम्भ से ही विवेकी बन मुमुक्षु आत्मा को स्त्रियों के साथ समागम नहीं करना चाहिये।

जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥२०॥
[उत्त० अ० ३२, गा० १३]

जैसे बिल्लियों के वास-स्थान के पास रहना चूहों के लिये योग्य नहीं है, वैसे ही स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच रहना ब्रह्मचारी के लिये योग्य नहीं है।

जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥२१॥
[दश० अ० ८, गा० ५४]

जिस तरह मुर्गी के बच्चे को बिल्ली मेरा प्राण हरलेगी ऐसा भय सदा बना रहता है, ठीक वैसे ही ब्रह्मचारी को भी नित्य स्त्री-सम्पर्क में आते हुए अपने ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का भय बना रहता है।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥२२॥

[उत्त अ १६, गा ४]

ब्रह्मचर्य में अनुराग रखनेवाले साधक को चाहिये कि वह स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग संस्थान मधुर भाषण तथा कटाक्ष का रसास्वादन करना छोड़ दें।

न रूवलावण्णविलासहासं,

न जंपियं इंगियपेहियं वा ।

इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,

दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥२३॥

[उत्त अ १२ गा १४]

तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप-लावण्य, विलास हास-परिहास भाषण-संभाषण स्नेहचेष्टा अथवा कटाक्षयुक्त दृष्टि को अपने मन में स्थान न दे अथवा उसे देखने का प्रयास न करे।

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥२४॥

[दश अ० ८, गा० ५५]

साधक शृङ्गारपूर्ण चित्रों से सुसज्जित दीवार तथा उत्तम रीति से अलंकृत ऐसी नारी की ओर टकटकी लगाकर देखने का प्रयास न करे। और तिसपर भी यदि दृष्टि पड़ जाय तो उसे सूर्य पर पड़ी दृष्टि की तरह शीघ्र ही हटा ले।

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्साऽऽरियझाणजुग्गं,
हियं सया बम्भवए रयाणं ॥२३॥
[उत्त० अ० ३२, गा० १५]

ब्रह्मचर्य में लीन और धर्म-ध्यान के योग्य साधु स्त्रियों को रागदृष्टि से न देखे, स्त्रियों की अभिलाषा न करे, मन से उनका चिन्तन न करे और वचन से उनकी प्रशंसा न करे। यह सब उसके ही हित में है।

जइ तं काहिसी भावं,
जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हढो
अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥२४॥
[उत्त० अ० २२, गा० ४४]

हे साधक! जिन जिन स्त्रियों पर तेरी दृष्टि पड़े, उन सब को भोगने की अभिलाषा करेगा तो वायु से कम्पायमान हड वृक्ष की तरह तू अस्थिर बन जाएगा और अपने चित्त की समाधि खो बैठेगा।

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं।
बम्भचेररओ थीणं, सोयगेज्झं विवज्जए ॥२५॥
[उत्त० अ० १६, गा० ५]

ब्रह्मचर्यानुरागी साधक स्त्रियों के मीठे मधुर प्रेम-रुदन गीत हास्य किल्कार, विलाप, आदि मोहजनक विषयों का परित्याग कर दे अर्थात् इन्हें कानों पर पड़ने ही न दे।

हास किड्डं रइ दप्पं, सहसा वित्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥२८॥
[उत्त० अ० १६, गा० ६]

ब्रह्मचर्य प्रेमी साधक ने पूर्वावस्था में स्त्रियों के साथ हास्य, द्यूतक्रीडा शरीर-स्पर्श का आनन्द, स्त्री का मान-मर्दन करने के लिये धारण किये हुए गर्व तथा विनोद के लिये की गई सहज चेष्टादि क्रियाओं का जो कुछ अनुभव किया हो उनका मन से कदापि विचार न करना चाहिये।

मा पेह पुरा-पणामए,
अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूमणएहिं नो नया,
ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२९॥
[सू० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० १०]

हे प्राणी! पूर्वानुभूत विषय भोगों का स्मरण न कर; न ही उनकी कामना कर। सभी माया-कर्मों को दूर कर। क्योंकि मन को दुष्ट बनानेवाले विषयों द्वारा जो नहीं झुकता है वही जिनकथित समाधि को जानता है।

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥४०॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ११]

जैसे अधिक ईंधनवाले वन में लगी हुई तथा वायु द्वारा प्रेरित दावाग्नि शान्त नहीं होती, वैसे ही सरस एवं अधिक प्रमाण में आहार करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी अग्नि शान्त नहीं होती।

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥४१॥
[दश० अ० ८, गा० ५७]

आत्म-गवेषी—आत्मान्वेषक पुरुष के लिये वेषविभूषा, स्त्रीसंसर्ग (स्पर्श) तथा रसपूर्ण स्वादिष्ट भोजन तालपुट विष के समान है।

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥४२॥
[उत्त० अ० १६, गा० ७]

ब्रह्मचर्य के अनुरागी साधक को शीघ्र ही मद (उन्मत्तता) बढ़ानेवाले स्निग्ध भोजन का सदा के लिये परित्याग कर देना चाहिये।

विवेचन—स्निग्ध अर्थात् रसपूर्ण। घी, दूध, दही, तेल, गुड़ और मिठाई ये सब स्निग्ध पदार्थों में गिने जाते हैं।

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया ॥४३॥
[उत्त अ १६ गा ८]

ब्रह्मचर्यानुरागी साधक को चाहिए कि भिक्षा के समय शुद्ध एषणा द्वारा प्राप्त आहार को ही स्वस्थ चित्त होकर संयम-यात्रा के लिये परिमित मात्रा में ग्रहण करे, किन्तु अधिक मात्रा में ग्रहण न करे।

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥४४॥
[उत्त अ १६ गा ९]

ब्रह्मचर्यप्रेमी साधक हमेशा आभूषणों का त्याग करे, शरीर की शोभा बढ़ावे नहीं तथा शृंगार सजाने की कोई क्रिया करे नहीं।

सद्दे रूवे य गंधे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥४५॥
[उत्त अ १६ गा १०]

ब्रह्मचर्यप्रेमी साधक को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शादि इन पाँच प्रकार के काम-गुणों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये।

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥४६॥
[उत्त अ १६ गा १४]

एकाग्र मन वाला ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगों को सदा के लिये त्याग दे और सर्व प्रकार के शंकास्पद स्थानों का परित्याग करे।

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥४ ॥
[उत्त० अ० १ गा० ११]

जैसे अधिक ईंधनवाले वन में लगी हुई तथा वायु द्वारा प्रेरित दावाग्नि शान्त नहीं होती वैसे ही सरस एवं अधिक प्रमाण में आहार करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी अग्नि शान्त नहीं होती।

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥४१॥
[दश० अ० गा० ५७]

आत्म-गवेषी—आत्मान्वेषक पुरुष के लिये देहविभूषा, स्त्रीसंसर्ग (सम्पर्क) तथा रसपूर्ण स्वादिष्ट भोजन तालपुट विष के समान है।

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥४२॥
[उत्त० अ० १६ गा०]

ब्रह्मचर्य के अनुगामी साधक को शीघ्र ही मद (उन्मत्तता) बढ़ाने वाले स्निग्ध भोजन का सदा के लिये परित्याग कर देना चाहिये।

विवेचन—स्निग्ध अर्थात् रसपूर्ण। घी दूध दही तेल, गुड़ और मिठाई ये सब स्निग्ध पदार्थों में गिने जाते हैं।

धारा १५

अपरिग्रह

धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारम्भपरिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥१॥
[उत्त० अ० १९ गा० २९]

धन धान्य नौकर-चाकर आदि का परिग्रह छोड़ना सर्व हिंसक प्रवृत्तियों का त्याग करना और निर्ममत्व भाव से रहना यह अत्यन्त दुष्कर है।

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खाण मुच्चइ ॥२॥
[सू० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० २]

जो सजीव अथवा निर्जीव वस्तु का स्वयं संग्रह करता है और दूसरे के द्वारा भी ऐसा ही संग्रह करवाता है अथवा अन्य व्यक्ति को ऐसा परिग्रह करने की सम्मति देता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता। अर्थात् संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता रहता है।

परिव्वयन्ते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परितप्पमाणे।

विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पुग्गलाण य ॥२४७॥
[दश० अ० ८, गा ५९]

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शरूप समस्त पुद्गलों के परिणामों को अनित्य समझ कर ब्रह्मचारी साधक मनोज्ञ विषयों में आसक्त न बने।

पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥२४८॥
[दश० अ० ८, गा ६०]

शब्द रूप गन्ध रस और स्पर्शरूप पुद्गल परिणामों का यथार्थ स्वरूप जानकर ब्रह्मचारी साधक अपनी आत्मा को शान्त करे तथा तृष्णारहित बन कर जीवन बिताये।

ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य चाण्डाल बोक्कस ऐषिक वैशिक शूद्र जो कोई आरम्भ में मग्न है और परिग्रह में आसक्त है उसका वैर बढ़ता ही जाता है। विषय-वासनादि प्रवृत्तियाँ आरम्भ-समारम्भ से परिपूर्ण हैं अतः वे मनुष्य को दुःख से मुक्त नहीं करतीं।

विवेचन—बोक्कस अर्थात् वर्णसङ्कर—जाति में उत्पन्न। ऐषिक अर्थात् बहेलिया जाति। वैशिक अर्थात् वेश्याओं से सम्बन्ध रखने-वाला।

> जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
> समाययन्ती अमइं गहाय।
> पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
> वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥७॥
> [उत्त० अ ४ गा० २]

जो मनुष्य धन को अमृत मान कर अनेकविध पापकर्मों द्वारा धन की प्राप्ति करता है वह कर्मों के दृढ़ पाश में बंध जाता है और अनेक जीवों के साथ वैरानुबन्ध कर अन्त में सारा धन-ऐश्वर्य यहीं पर छोड़ नरक में जाता है।

> थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।
> पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाओ मोअणे ॥८॥
> [उत्त० अ ६, गा० ६]

कर्मवश दुःख भोगनेवाले प्राणी को चल-अचल सम्पत्ति धन धान्य, उपकरण आदि कोई भी दुःख से मुक्त करवाने में समर्थ नहीं है।

अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे,
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥३॥
[उत्त० अ० १४ गा १४]

जो पुरुष काम-भोग से निवृत्त नहीं हुआ है, वह रात-दिन सन्तप्त रहता है। और उसके इधर उधर भ्रमण किया करता है। साथ ही स्वजनों के लिये वह दूषित प्रवृत्ति से धन प्राप्त करने के प्रयत्न में ही जरा एवं मृत्यु को प्राप्त होता है।

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे,
ममाइसे साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे,
अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व ॥४॥
[सू० श्रु० १ अ० १ गा १८]

मनुष्य पल-पल घट रहा है। इस तथ्य को न समझ कर मूर्ख मनुष्य 'मेरा-मेरा' करते हुए नित्य प्रति नया साहस करता रहता है। वह मूढ़ अजरामर हो इस प्रकार अर्थ-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है और आर्त्तध्यान वशात् दिन और रात सन्तप्त होता है।

माहणा खत्तिया वेस्सा, चण्डाला अदु वोक्कसा।
एसिया वेसिया सुद्दा, अहि आरम्भनिस्सिया ॥५॥
परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।
आरम्भसंभिया कामा, न ते दुःखविमोयगा ॥६॥
[सू० श्रु० १ अ० ६ गा० २-३]

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य चाण्डाल बोक्कस ऐषिक वैशिक शूद्र जो कोई आरम्भ मे मग्न है और परिग्रह मे आसक्त है उसका वैर बढ़ता चला जाता है। विषय-वासनादि प्रवृत्तियाँ आरम्भ-समारम्भ से परिपूर्ण है अतः वे मनुष्य को दुःख से छुड़ा नही सकती।

विवेचन—बोक्कस अर्थात् वर्णसङ्कर—जाति मे उत्पन्न। ऐषिक अर्थात् बहेलिया आदि। वैशिक अर्थात् वेश्याओं से सम्बन्ध रखने वाला।

> जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
>
> समाययन्ती अमइं गहाय।
>
> पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
>
> वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥७॥
>
> [उत्त० अ ४ गा २]

जो मनुष्य धन को अमृत मान कर अनेकविध पापकर्मों द्वारा धन को प्राप्त करता है वह कर्मों के दृढ़ पाश में बँध जाता है और अनेक जीवों के साथ वैरानुबन्ध कर अन्त में सारा धन-ऐश्वर्य यही पर छोड़ नरक में जाता है।

> थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।
>
> पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाओ मोयणे ॥८॥
>
> [उत्त० अ ६,गा ६]

कर्मवश दुःख भोगनेवाले प्राणी को चल-अचल सम्पत्ति धन धान्य, उपकरण आदि कोई भी दुःख से मुक्त करवाने में समर्थ नही है।

है—ऐसा समझ कर [धर्मानुष्ठान द्वारा] कर्म से मुक्त होना चाहिये।

कसिणं पि जो इमं लोयं,
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणाऽवि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥१२॥

[उत्त अ ८, गा ११]

यदि धन-धान्य से परिपूर्ण यह सारा जगत् किसी मनुष्य को दे दिया जाय तो भी इससे उसे सन्तोष नहीं होगा। लोभी आत्मा की तृष्णा इस प्रकार शान्त होनी अत्यन्त कठिन है।

सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥१३॥

[उत्त अ ९ गा ४८]

कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत बन जाँय तो भी वे लोभी मनुष्य के लिये कुछ भी नहीं है। वास्तव में इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च,
पुत्तदारं च बन्धवा ।
चइत्ता णं इमं देहं,
गन्तव्वमवसस्स मे ॥९॥

[उत्त० अ० १९, गा० १७]

मनुष्य मात्र को हमेशा ऐसा सोचना चाहिये कि क्षेत्र (भूमि), घर, सोना-चाँदी पुत्र स्त्री सगे-सम्बन्धी तथा शरीरादि सभी को छोड़कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पड़ेगा ।

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले, अन्नमन्नेहि मुच्छए ॥१० ॥

[सू० श्रु० १ अ० १ उ० १, गा० ४]

मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न होता है अथवा जिनके साथ वास करता है उनके साथ अज्ञानवश ममत्व से लिपट जाता है । (अर्थात् यह मेरी माता यह मेरी पत्नी यह मेरा पुत्र, ऐसा मानता है ।) ठीक वैसे ही अन्यान्य वस्तुओं में (धन धान्यादि में) भी मूर्च्छित (ममत्व वाली) होता है ।

वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।
संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥११॥

[सू० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० ५]

धन-धान्य और बान्धव आदि कोई भी आत्मा को संसार-परिभ्रमण से बचा नहीं सकते । अतः मुमुक्षु साधक को यह जीवन स्वल्प

वे मक्खन नमक तेल घृत गुड़ आदि का संग्रह (एक रात्रि के लिए भी) नहीं करते ।

> लोहस्सेस अणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
> जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से ॥१७॥
>
> [दश० अ ६, गा १८]

क्योंकि इस तरह संग्रह करना यह एक अथवा अन्य रूप मे लोभ का ही स्पर्श करने जैसा है अतः जो संग्रह करने की वृत्तिवाले हैं, वे साधु नहीं बल्कि (सांसारिक वृत्तियों मे रमे हुए) गृहस्थ ही हैं ।

> जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
> तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥१८॥
>
> [दश अ ६, गा १९]

संयमी पुरुष वस्त्र पात्र कम्बल पादपुञ्छन आदि जो कुछ भी अपने पास रखते हैं वह संयम के निर्वाह हेतु ही रखते हैं (अतः वह परिग्रह नहीं है) । किसी समय वे संयम की रक्षा के लिये इनका त्याग भी करते हैं ।

> न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
> मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१९॥
>
> [दश अ ६,गा २]

प्राणिमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर देव ने वस्त्रादि बाह्य

दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥१४॥
[उत्त० अ० ४, गा० ५]

प्रमादी पुरुष इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी धन के बल से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। कारण जिसका ज्ञानदीपक अनन्त मोह से बुझ गया है, (अनन्त अन्धकारपूर्ण बन गया है) ऐसी आत्मा न्यायमार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने हुए के समान वर्तन करती है।

विवाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं,
ममत्तबन्धं च महब्भयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं,
धारेज निव्वाणगुणावहं महं ॥१५॥
[उत्त० अ० १९, गा० ९]

हे भव्यजनो ! धन को दुःख बढ़ानेवाला ममत्वरूपी बन्धन का कारण तथा महान् भयदाता मानकर उत्तम और महान् धर्मधुरा को धारण करो कि जो सुखदायक और निर्वाण-गुणों को देनेवाली है।

विडमुब्भेइमं लोणं तिल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्तवओरया ॥१६॥
[दश० अ० ६, गा० १७]

जो लोग भगवान् महावीर के वचनों में अनुरक्त हैं अर्थात् भगवान् महावीर द्वारा बताये हुए संयम-मार्ग में विचरण कर रहे हैं

वे मक्खन नमक, तेल घृत गुड़ आदि का संग्रह (एक रात्रि के लिए भी) नहीं करते।

लोहस्सेस अणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से ॥१७॥
[दश अ ६, गा १८]

क्योंकि इस तरह संग्रह करना यह एक अथवा अन्य रूप में लोभ का ही स्पर्श करने जैसा है अतः जो संग्रह करने की वृत्तिवाले हैं वे साधु नहीं बल्कि (सांसारिक वृत्तियों में रमे हुए) गृहस्थ ही हैं।

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारन्ति परिहरन्ति य ॥१८॥
[दश अ ६, गा १९]

संयमी पुरुष वस्त्र पात्र कम्बल, पादप्रोञ्छन आदि जो कुछ भी अपने पास रखते हैं वह संयम के निर्वाह हेतु ही रखते हैं (अतः वह परिग्रह नहीं है)। किसी समय वे संयम की रक्षा के लिये इनका त्याग भी करते हैं।

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१९॥
[दश अ ६, गा २]

प्राणिमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर देव ने वस्त्रादि बाह्य

धारा १९

सामान्य साधुधर्म

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥१॥

[दश. अ. ३ गा. ११]

निर्ग्रन्थ मुनि (हिंसादि) पाँच आस्रवद्वार के त्यागी तीन गुप्तियों से गुप्त, छह प्रकार के जीवों की दया पालनेवाले पाँच इन्द्रियों का निग्रह करनेवाले स्वस्थ चित्तवाले और सरलस्वभावी होते हैं।

गारवेसु कसाएसु दंडसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो ॥२॥

[उत्त. अ. १९, गा. ९१]

साधु (रसगारव, ऋद्धिगारव और साताागारवादि तीन प्रकार के) गारव (क्रोधादि चार प्रकार के) कषाय (मन वचन काया की) दुष्प्रवृत्तियाँ तथा (माया, निदान और मिथ्यात्वादि तीन) शल्य भय हास्य एवं शोक से निवृत्त होता है। वह बाल-तप के फलस्वरूप सांसारिक सुखों की कामना नहीं करता और माया के बन्धनों से पूर्णतया मुक्त होता है।

अप्पमत्तेहिं दारहिं, मत्तमो पिहियासवा ।
अज्झप्पज्झाण जोगेहिं, पसत्थदमसासणा ॥१॥
[उत्त० अ० १४ गा० १९]

साधु धर्म जाने के सभी अप्रशस्त द्वारों को सब ओर से बंद कर अनाश्रवी हो जाता है और अध्यात्म तथा ध्यान-योग से आत्मा का प्रशस्त दमन एवं अनुशासन करनेवाला होता है ।

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे ।
हविज्ज उयरे दंते, थोवं लद्धुं न खिसए ॥२॥
[दश० अ० ८, गा० २९]

साधु काम से बड़बड़ाहट न करनेवाला, स्थिर-बुद्धि तोलकर बोलनेवाला परिमित आहारकर्ता तथा भूख का दमन करनेवाला होता है । थोड़ा आहार मिलने पर कभी क्रोध नहीं करता ।

जाइ सद्धा° निक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा गुणे आयरियसम्मए ॥३॥
[दश० अ० ८ गा० ६१]

(साधु ने) जिस अनन्य श्रद्धा से गृहत्याग कर उत्तम चारित्र-पद अंगीकार किया हो उसी श्रद्धा से महापुरुषों द्वारा प्रदर्शित कल्याण-मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ।

देवलोगसमाणो य, परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥६॥
[दश० चू० १, गा० १०]

संयम में अनुरक्त महर्षियों को चारित्रपर्याय देवलोक जैसा सुख-कर्म प्रदान करनेवाला होता है। जो संयम में अनुरक्त नहीं है, के लिए वही चारित्रपर्याय महानरक जैसा कष्टदायक बन ता है।

आयावयाही चय सोअमल्लं,
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं
एवं सुही होहिसि संपराए ॥७॥
[दश अ ५, गा ५]

आत्मा को तपाओ (कलेश पहुँचाओ) सुकुमारता का त्याग रो और कामनाओं को छोड़ दो इससे दुःख अवश्य दूर होंगे। प को छिन्न भिन्न करो और राग का उच्छेद करो। ऐसा करने संसार में सुखी बनोगे।

ज न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ ८ ॥
[दश अ ५ उ० २, गा ३]

यदि कोई वन्दन न करे तो क्रुद्ध न होवे और यदि कोई वन्दन रे तो अभिमान न करे। इस प्रकार जो विवेकपूर्वक संयम-धर्म का ालन करता है उसका साधुत्व स्थिर रहता है।

न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, नेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥९॥
[उत्त० अ० ३५, गा ८]

साधु स्वयं गृहादि का निर्माण न करे, दूसरों के पास न करवाये और कोई करता हो तो उसका अनुमोदन भी न करे। क्योंकि गृह-कर्म के समारम्भ में अनेक प्राणियों का वध प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बायराण य ।
गिहकम्मसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥१०॥

[उत्त० अ० ३५ गा० ९]

गृहादिनिर्माण में त्रस स्थावर, सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवों का वध होता है। इसलिये साधु गृहकार्य-समारम्भ का परित्याग करे।

तहेव भत्तपाणेसु पयणे पयावणेसु य ।
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥११॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १०]

इसी प्रकार भोजन बनाने-बनवाने में भी जीववध प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अतः प्राणियों तथा भूतमात्र की दया के लिये साधु स्वयं भोजन बनाये नहीं और दूसरों से भी बनवाये नहीं।

एगयाऽचेलए होइ, सचेले यावि एगया ।
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥१२॥

[उत्त० अ० २, गा० १३]

साधु कभी वस्त्ररहित होता है तो कभी वस्त्रसहित। इन दोनों अवस्थाओं को धर्म में हितकारी मानकर उसका खेद न करे।

कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए ॥१३॥
[दश० अ० ८, गा० २६]

साधु कर्ण प्रिय शब्दों पर मुग्ध न होवे साथ ही दारुण और कर्कश स्पर्शों को समभावपूर्वक सहन करे।

समणं संजयं दन्तं, हणेज्जा कोवि कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥१४॥
[उत्त० अ० २ गा० २७]

इन्द्रियों का दमन करनेवाले संयमी साधु को यदि कोई दुष्ट व्यक्ति किसी प्रकार से सताये अथवा मार-पीट करे तो 'जीव का कभी नाश नहीं होता' ऐसा विचार करे।

खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरइं भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥१५॥
[दश० अ० ८, गा० २७]

क्षुधा तृषा दुःशय्या ठंड, गर्मी अरति भय आदि सभी कष्टों को साधक अदीन भाव से सहन करे। [समभाव से सहन किये गये] दैहिक कष्ट महाफलदायी होते हैं।

एगं मण्णइ अप्पाणं, जाव जयं न पस्सई।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥१६॥

साधु स्वयं गृहादि का निर्माण न करे, दूसरों के पास न करवाये और कोई करता हो तो उसका अनुमोदन भी न करे। क्योंकि गृह-कर्म के समारम्भ में अनेक प्राणियों का वध प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

तसाण थावराणं च, सुहुमाणं बायराण य।
गिहकम्मसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥११॥

[उत्त० अ० ३५ गा० ९]

गृहादिनिर्माण में त्रस स्थावर, सूक्ष्म और बादर (स्थूल) दोनों का वध होता है। इसलिये साधु गृहकार्य-समारम्भ का परिवर्जन करे।

तहेव भत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥१२॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १०]

इसी प्रकार भोजन बनाने-बनवाने मे भी जीववध प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अतः प्राणियों तथा भूतमात्र की दया के लिये साधु स्वयं भोजन बनाये नहीं और दूसरों से भी बनवाये नहीं।

एगयाचेलए होइ सचेले यावि एगया।
एअं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥१३॥

[उत्त० अ० २, गा० १३]

साधु कभी वस्त्ररहित होता है तो कभी वस्त्रसहित। इन दोनों अवस्थाओं को धर्म मे हितकारी मानकर उसका खेद न करे।

जिस तरह राज्य भ्रष्ट क्षत्रिय विषाद का अनुभव करता है ठीक उसी तरह अल्प पराक्रमी साधु पुरुष भी हेमन्त ऋतु के महीने में सर्दी मों को छोत स्पर्श करने पर विषाद का अनुभव करता है।

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मन्दा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥२०॥
[सू श्रु १ अ ३ उ १ गा० ५]

ज्यों थोड़े जल में मछली विषाद का अनुभव करती है त्यों ही ग्रीष्म ऋतु के अति ताप से तृषापीड़ित होने पर अल्प पराक्रमी साधु पुरुष भी विषाद का अनुभव करता है।

सया दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥२१॥
[सू श्रु १ अ ३ उ १ गा ६]

साधुजीवन में दी गई वस्तु लेना, यह दुःख सदा रहता है। याचना का परीषह असह्य होता है। सामान्य मनुष्य प्रायः यह कहते पाये जाते हैं कि 'यह भिक्षु भाग्यहीन है और अपने कर्मों का फल भोग रहा है'।

एए सद्दा अचायन्ता, गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति संगामम्मि व भीरुया ॥२२॥
[सू श्रु १ अ ३ उ १ गा ७]

गाँव और नगरों में इस तरह कहे गये आक्रोशपूर्ण वचनों को सहन न कर सकनेवाला अल्प पराक्रमी साधु पुरुष संग्राम में गये हुए भीरु पुरुष के समान ही विषाद को प्राप्त होता है।

पयाया सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिए।
माया पुत्तं न जाणाइ, जेएण परिविच्छए ॥१७॥

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए।
सूरं मन्नइ अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥१८॥

[सू. श्रु. १ अ. ३, उ० १ गा० १-२]

जहाँ तक कायर पुरुष विजयी पुरुष को नहीं देखता है वहाँ तक वह अपने को शूर मानता है परन्तु युद्ध करते समय महारथी श्रीकृष्ण से शिशुपाल ज्यों क्षुब्ध हुआ था त्यों ही क्षुब्ध होता है।

स्वयं को शूरवीर माननेवाला पुरुष संग्राम के अग्रिम मोर्चे पर चला जाता है किन्तु जब युद्ध आरम्भ होता है तो ऐसी घबराहट फैल जाती है कि माता को अपनी गोद से गिरते बच्चे की भी सुधि नहीं रहती तब शत्रुओं के प्रहार से मर्मभेद बना वह मन्द पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है।

जैसे कायर पुरुष शत्रुओं द्वारा घायल न होवे तबतक अपने आपको शूरवीर मानता है। ठीक वैसे ही भिक्षाचर्या में प्रतिकूल तथा परीषहों से अस्पृष्ट ऐसा नवदीक्षित मुनि भी कठोर संयम का पालन नहीं करता तबतक अपने को वीर मानता है।

जया हेमंतमासम्मि सीयं फुसइ सव्वगं।
तत्थ मन्दा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥१९॥

[सू. श्रु. १, अ० ३, उ. १ गा० ४]

जिनसे अनार्य-पुरुष मिथ्यात्व की भावना में डूबे हुए राग-द्वेष पूर्वक जान-बूझकर साधुओं को पीड़ा पहुँचाते हैं और अपनी आत्मा को दण्डभागी बनाते हैं।

अप्पेगे पलियन्त सि, चारो चारो त्ति सुव्वयं ।
बन्धन्ति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥२७॥
[सू० श्रु० १ अ० ३ उ० १ गा० १५]

कई अज्ञानी जन विहार करते हुए सुव्रती साधु को यह 'गुप्तचर है' 'यह चोर है' ऐसा कहकर रस्सी आदि से बाँधकर तथा कटु वचनों से पीड़ा पहुँचा कर कष्ट देने लगते हैं।

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नाईणं सरई बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥२८॥
[सू० श्रु० १ अ० ३ उ० १ गा० १६]

अनार्य देश के असम्यचारी लोग साधु को लाठी, मुक्का अथवा लकड़ी के पटिये आदि से मारते-पीटते हैं। उस समय अल्प पराक्रमी साधु पुरुष कोपवश घर से बाहर निकली हुई तथा बन्धु-बान्धवों का स्मरण करती हुई स्त्री के समान अपने बन्धु-बान्धवों का स्मरण करता है।

स किं ता अदुसए लुप्पए,
लुप्पन्तो लागसि पाणिणा ।
एवं सहिएहिं पासए,
अनिहे स पुढे हियासए ॥२९॥
[सू० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० १३]

अप्पेग सुधियं भिक्खु, सुणी डसइ लूसए।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, तेउपुट्ठा व पाणिणा ॥२३॥
[सू. श्रु० १ अ ३ उ १ गा०]

भिक्षा के लिये निकले हुए भूखे साधु को जब कोई क्रूर प्राणी—कुत्ता आदि काट खाता है तब अल्प पराक्रमी साधु पुरुष अग्नि से झुलसे गये प्राणी के समान विषाद को प्राप्त होता है।

पुट्ठा य दसमसगेहिं, तणफासमचाइया।
न मे दिट्ठ परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥२४॥
[सू. श्रु १ अ ३ उ १ गा० १२]

डाँस और मच्छर के दंश तथा तृण की शय्या के रूखे स्पर्श को सहन न कर सकनेवाला अल्प पराक्रमी साधु पुरुष ऐसा भी सोचने लगता है कि—'मैंने परलोक तो प्रत्यक्ष देखा नहीं किन्तु इस कष्ट से तो साक्षात् मरण ही दिखाई दे रहा है।

संतत्ता केसलोएण बम्भचेरपराइया।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥२५॥
[सू. श्रु० १ अ० ३ उ १ गा १३]

केशलोच से पीड़ित एवं ब्रह्मचर्य पालन में असमर्थ अल्प पराक्रमी साधु पुरुष जाल में फँसी हुई मछली के समान दुःख का अनुभव करता है।

आयदण्डसमायारे, मिच्छासठियभावणा।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसन्ति नारिया ॥२६॥
[सू० श्रु १ अ० ३ उ० १ गा १४]

जिनने अनार्य-पुरुष मिथ्यात्व की भावना मे डूबे हुए रागद्वेष पूर्वक जान-बूझकर साधुओं को पीड़ा पहुँचाते हैं और अपनी आत्मा को कर्मभागी बनाते हैं।

अप्पेग पलियन्ते सिं, चारो चारो त्ति सुव्वयं ।
बन्धन्ति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥२७॥
[सू. श्रु. १ अ. १ उ. १ गा. १५]

कई अज्ञानी जन विहार करते हुए सुव्रती साधु को यह 'गुप्तचर है' 'यह चोर है' ऐसा कहकर रस्सी आदि से बाँधकर तथा कटु वचनों से पीड़ा पहुँचा कर कष्ट देते रहते हैं।

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा
नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥२८॥
[सू. श्रु. १ अ. ३, उ. १ गा. १६]

अनार्य देश के असंस्कारी लोग साधु को लाठी मुक्का अथवा लकड़ी के पटिये आदि से मारते–पीटते हैं। उस समय अल्प पराक्रमी साधु पुरुष क्रोधवश घर से बाहर निकली हुई तथा बन्धु-बान्धवों का स्मरण करती हुई स्त्री के समान अपने बन्धु-बान्धवों का स्मरण करता है।

न वि ता अहमेव लुप्पए,
लुप्पन्ती लोगंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहिं पासए,
अनिहे से पुट्ठे हियासए ॥२९॥
[सू. श्रु. १ अ. २ उ. १ गा. १३]

कष्ट या आपत्ति के टूट पड़ने पर ज्ञानी पुरुष प्रायः खेदरहित मन से ऐसा विचार करता है कि सिर्फ मैं ही इन कष्टों से पीड़ित नहीं हूँ, किन्तु संसार में दूसरे भी दुःखित हैं। और जो कष्ट या आपत्तियाँ सिरपर आती हैं—उन्हें शान्तिपूर्वक सहन करता है।

एए भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वस गया गिहं ॥२॥

[सू० श्रु० १ अ० ३, उ १ गा १७]

हे शिष्यो ! ये सारे परीषह कष्टदायी और दुःसह हैं। ऐसी स्थिति में कायर-पुरुष बाणों के प्रहार से घायल हुए हाथी की तरह भयभीत होकर गृहवास में चला जाता है।

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठओ भीरू पेहइ ।
वलयं गहणं नूमं, को जाणइ पराजयं ॥२१॥
एवं उ समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं ।
अणागयं भय दिस्स, अविकप्पन्तिमं सुयं ॥२२॥

[सू० श्रु० १ अ ३ उ ३ गा ११]

जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष किसकी विजय होगी ? ऐसी पराजय-कल्पना करता हुआ हमेशा पीछे की ओर देखता है और किसी वलय (गोल आकार का खड्डा) झाड़ी आदि गहन प्रदेश अथवा दुर्गम भाग पर दृष्टि रखता है वैसे ही कुछ श्रमण अपने को संयम का पालन करने में असमर्थ पाकर अनागत भय की आशङ्का से व्याकरण और ज्योतिष आदि की शरण लेते हैं।

जे ते संगामकालम्मि, नाया सूरपुरंगमा।
नो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ॥२३॥
[सू० श्रु० १ अ० ३ उ० गा० ६]

परन्तु जो पुरुष लड़ने में प्रसिद्ध और शूरों में अग्रगण्य होते हैं वे पिछली बातों पर कतई ध्यान नहीं देते। क्योंकि वे यह भलीभाँति जानते हैं कि मृत्यु से अधिक और क्या होनेवाला है ?

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे,
निमित्तकोउहलसंपगाढे,
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥२४॥
[उत्त० अ० २० गा० ४५]

जो साधु लक्षणशास्त्र तथा स्वप्नशास्त्र का प्रयोग करता है सदा निमित्त-कुतूहल में आसक्त रहता है जन साधारण को आश्चर्य चकित कर आश्रव बढ़ानेवाली विद्याओं से जीवन चलाता है उसका कर्मफल भोगने के समय कोई शरणभूत नहीं होता।

जं सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥२५॥
[दश० अ० ६, गा० १९]

जो साधु (घृत, गुड़, मिश्री शक्कर आदि का) संग्रह करना चाहता है वह वस्तुतः साधु नहीं, गृहस्थ है।

गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥२६॥
[उत्त० अ० २२ गा० ४६]

कष्ट या आपत्ति के टूट पड़ने पर कायर पुरुष प्रायः खेदखिन्न मन से ऐसा विचार करता है कि सिर्फ मैं ही इन कष्टों से पीड़ित नहीं हूँ, किन्तु संसार में दूसरे भी दुःखित हैं। और जो कष्ट या आपत्तियाँ सिरपर आती हैं—उन्हें शान्तिपूर्वक सहन करता है।

एए भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वस गया गिहं ॥२०॥
[सू० श्रु० १ अ० ३ उ० १ गा० १७]

हे शिष्यो! ये सारे परीषह कष्टदायी और दुःसह हैं। ऐसी स्थिति में कायर-पुरुष बाणों के प्रहार से घायल हुए हाथी की तरह भयभीत होकर गृहवास में चला जाता है।

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठओ भीरू पेहइ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ॥२१॥
एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं।
अणागयं भयं दिस्स, अविकप्पंतिमं सुयं ॥२२॥
[सू० श्रु० १ अ० ३, उ० ३ गा० १,३]

जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष किसकी विजय होगी? ऐसी शंका-कुशंका करता हुआ हमेशा पीछे की ओर देखता है और किसी वलय (गोल आकार का गड्ढा) झाड़ी आदि घना प्रदेश अथवा दुर्गम मार्ग पर दृष्टि रखता है वैसे ही कुछ श्रमण अपने को संयम का पालन करने में असमर्थ पाकर अनागत भय की आशंका से व्याकरण और ज्योतिष आदि की शरण लेते हैं।

सुकज्झाण झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥३९॥

[दश० अ १० गा २१]

साधु शुक्ल ध्यान मे मग्न रहे जप-तप के फलस्वरूप सासारिक सुखों की कामना न करे, सदा अकिञ्चनवृत्ति से रहे तथा मृत्यु पर्यन्त काया का ममत्व त्याग कर विचरण करता रहे ।

जे माहणे खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।
जे पव्वइए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्ध ॥४०॥

[सू श्रु १ अ १३, गा १]

जिसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और जो दूसरे को दी गई भिक्षा का भोक्ता बन गया वह पहली अवस्था मे ब्राह्मण, क्षत्रिय उग्रवश अथवा लिच्छवी आदि किसी भी वश या जाति का हो किन्तु उसे अपने पूर्व गोत्र के अभिमान म बंधे रहना नही चाहिये ।

आहारमिच्छे मियमेसणिज्ज,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धि ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४१॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ४

समाधि के इच्छुक तपस्वी साधु को परिमित और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये निपुणार्थ बुद्धिवाले को अपना स मे रखना

हे शिष्य ! जिस तरह ग्वाला गौओं के चराने मात्र से उनका स्वामी नहीं बन जाता अथवा कोषाध्यक्ष धन की सुरक्षा करने मात्र से ही उसका स्वामी नहीं बन पाता। ठीक उसी तरह तू भी केवल साधु के वेश-कम्बलादि को रक्षा करने से साधुत्व का अधिकारी नहीं बन सकेगा।

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥२७॥
[दश० अ० २, गा० १]

जो साधक संकल्प-विकल्प के वशीभूत होकर पद-पद पर विषाद युक्त अर्थात् शिथिल हो जाता है और विषय-वासनादि का निवारण नहीं करता, वह भला श्रमणत्व का पालन किस तरह कर सकेगा ? तात्पर्य यह है कि वह कदापि नहीं कर सकेगा।

न पूयणं चेव सिलोयकामी
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥२८॥
[सू० श्रु० १ अ० १३, गा० २२]

साधु पूजा और कीर्ति की कामना न करे, किसी को प्रिय अथवा अप्रिय न बनावे। वह सभी प्रकार की अनर्थकारी प्रवृत्तियों का त्याग करे और भयरहित तथा कषायरहित बने।

सुक्कज्झाण झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥३९॥
[उत्त० अ० ३५ गा० १९]

साधु शुक्ल ध्यान मे मग्न रहे जप-तप के फलस्वरूप सांसारिक सुखों की कामना न करे, सदा अकिंचनवृत्ति से रहे तथा मृत्यु-पर्यन्त काया का ममत्व त्याग कर विचरण करता रहे ।

जे माहणे खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।
जे पव्वइए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥४०॥
[सू० श्रु० १ अ० १३ गा० १]

जिसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और जो दूसरे की दी गई भिक्षा का भोक्ता बन गया वह पहली अवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय उग्रवंश अथवा लिच्छवी आदि किसी भी वंश या जाति का हो किन्तु उसे अपने पूर्व गोत्र के अभिमान में अकड़े रहना नहीं चाहिये ।

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४१॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ४]

समाधि के इच्छुक तपस्वी साधु को परिमित और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये निपुणार्थ बुद्धिवाले को अपना साथी रखना

चाहिये और रहने के लिये स्त्री आदि के संसर्ग से रहित स्थान को पसन्द करना चाहिये।

> न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
> गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
> एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो,
> विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥४२॥
> [उत्त० अ० ३२ गा० ५]

यदि योग्य ज्ञान-शील के बारे में गुण में अपने से अधिक या अपने जैसा ही कल्याणकामी—योग्यतावाला निपुण साथी नहीं मिले तो वह सदा-सर्वदा पापों का वर्जन करता हुआ और भोग के प्रति अनासक्त वृत्ति धारण कर अकेला ही विचरण करे।

> जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं।
> से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नत्थि ममाइयं ॥४३॥
> [आचा० अ० २, उ० ६]

जो अपनी ममतावाली बुद्धि का त्याग कर सकता है वही परिग्रह का त्याग कर सकता है। जिसके चित्त में ममत्व नहीं है वही संसार के भयस्थानों को भली भाँति देख सकता है।

> वत्थगंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य।
> अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥४४॥
> [दश० अ० २ गा० २]

जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री, पलंग आदि का परवशता के कारण उपभोग नहीं कर सकता उसे सच्चा त्यागी अर्थात् साधु नहीं कहा जा सकता।

> जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वई।
> साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥४५॥
>
> [दश० अ० २ गा० ३]

जो इष्ट और मनोहर भोग प्राप्त होने पर भी उनका परित्याग करता है तथा स्वाधीन भोगों को भी नहीं भोगता है वही सच्चा त्यागी अर्थात् साधु कहा जाता है।

> छज्जीवकाए असमारभन्ता,
> मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
> परिग्गहं इत्थिओ माणमायं,
> एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥४६॥
>
> [उत्त० अ० १२ गा० ४१]

इन्द्रियों का दमन करनेवाले साधु पुरुष छह काय के जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचाते, मृषावाद और अदत्त का सेवन नहीं करते तथा परिग्रह, स्त्री, मान और माया को त्याग करके विचरते हैं।

> निद्दं च न बहु मन्नेज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
> मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥४७॥
>
> [दश० अ० ८ गा० ४१]

साधु पुरुष को चाहिये कि वह निद्रा का विशेष आदर न करे, हँसी-मजाक का त्याग करे, किसी की गुप्त बातों में दिलचस्पी न ले और स्वाध्याय में सदा मग्न रहे।

अच्चण रयणं चेव, वन्दणं पूअणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं, मणसा वि न पत्थए ॥४८॥
[उत्त० अ० ३५ गा १८]

साधुपुरुष अर्चना रचना वन्दन पूजन ऋद्धि सत्कार और सम्मान को मन से भी कभी इच्छा न करे।

परे पयाई परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभांतरे जीविय वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥४९॥
[उत्त० अ० ४, गा]

साधुपुरुष इस जगत् में स्त्री पुत्र धन सम्पत्ति आदि जो कुछ भी सुख की सामग्री है उसे एक प्रकार का पाश या बन्धन माने और कहीं मेरे चारित्र्य में इनसे दोष न लग जाय ऐसी शंका धारण कर सावधानी से अपना कदम उठाये। जहाँ तक ज्ञानादि का लाभ होता हो वहाँ तक वह जीवन की वृद्धि करे और जब यह शरीर धर्म-साधना में निरुपयोगी प्रतीत हो, तब मल के समान इसका त्याग कर दे।

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥५०॥
[उत्त अ १९ गा ८९]

साधु पुरुष ममत्वरहित अहङ्काररहित निस्संगी, गौरव का परित्याग करनेवाला और त्रस-स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखनेवाला होता है।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणओ ॥५१॥
[उत्त अ १९ गा ९०]

साधु पुरुष लाभ-हानि सुख-दुःख जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मानापमान आदि हर स्थिति में समभाव से रहनेवाला होता है।

गारवेसु कसाएसु, दंड-सल्ल-भएसु य ।
नियत्तो हास सोगाओ, अनियाणो अबंधणो ॥५२॥
[उत्त अ १९ गा ९१]

साधु पुरुष (तीन प्रकार के) गारव से (चार प्रकार के) कषाय से (तीन प्रकार के) दण्ड से (तीन प्रकार के) शल्य से (सात प्रकार के) भय-स्थानों से हास्य से तथा शोक से निवृत्त होता है। वह संयम के फलस्वरूप किसी प्रकार के सांसारिक सुखों की इच्छा करता नहीं किसी प्रकार के बन्धन में फँसता नहीं।

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥५३॥
[उत्त अ १९ गा ९२]

साधु इस लोक में सुख भोगने की इच्छा न रखे और न ही परलोक में सुख भोगने की इच्छा रखे। कोई अपने शरीर को बसौले से छील डाले अथवा चन्दन का लेप करे, ठीक वैसे ही भोजन मिले या अनशन करना पड़े तो भी हर स्थिति में समभाव धारण करे।

हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहियासिज्जा, न य कोलाहलं करे ॥४४॥

[सू० श्रु० १ अ० ९ गा० ३१]

कोई पीटे तो क्रोध न करे, कोई कटुवचन कहे तो गर्म न होवे सभी परीषह समभाव से सहन करे और किसी प्रकार का कोलाहल न करे।

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥४५॥

[दश० अ० ७, गा० ५५]

जो मुनि वाक्यशुद्धि का अच्छी तरह से विचार कर दुष्ट भाषा का प्रयोग करना सदा के लिये छोड़ देता है जो मित और अदुष्ट भाषा बोलता है वह सत्पुरुषों में प्रशंसा का पात्र होता है।

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए ।
चइऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चई ॥५६॥
निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥५७॥

[उत्त० अ० ३५, गा० २०, २१]

जो सामर्थ्यवान् मुनि कालधर्म (मृत्यु) के निकट आते ही आहार का त्याग करता है और अनशन-व्रत धारण कर इस शरीर का परित्याग कर देता है वह सभी दुःखों से मुक्त होता है ।

जो साधु ममत्व-रहित अहङ्कार-रहित वीतराग और अनास्रवी बनता है वह केवलज्ञान प्राप्त कर शाश्वत सुख का भोक्ता बनता है ।

साधु इस लोक में सुख भोगने की इच्छा न रखे और न ही परलोक में सुख भोगने की इच्छा रखे। कोई अपने शरीर को बसौले से छील डाले अथवा चन्दन का लेप करे, ठीक वैसे ही भोजन मिले या अनशन करना पड़े तो भी हर स्थिति में समभाव धारण करे।

हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहियासिज्जा, न य कोलाहलं करे॥४७॥
[सू. श्रु. १ अ. ९ गा. ३१]

कोई पीटे तो क्रोध न करे, कोई कटुवचन कहे तो गर्म न होवे, सभी परीषह समभाव से सहन करे और किसी प्रकार का कोलाहल न करे।

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं॥४८॥
[दश. अ. ७ गा. ५५]

जो मुनि वाक्यशुद्धि का अच्छी तरह से विचार कर दुष्ट भाषा का प्रयोग करना सदा के लिये छोड़ देता है और मित और अदुष्ट भाषा बोलता है वह सत्पुरुषों में प्रशंसा का पात्र होता है।

आवश्यकता पड़ जाय तो स्वामी की आज्ञा लेकर अचित्त पृथ्वी पर प्रमार्जना (योग्य साफ-सफाई) कर बैठे ।

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य ।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ॥३॥
[दश० अ० ८, गा० ६]

संयमी पुरुष (नदी कुआँ तालाब आदि के) कच्चे पानी का उपयोग न करे, वर्षा के पानी को काम में न लावे और बर्फ के पानी का भी उपयोग न करे । वह सदा खूब उबले हुए निर्जीव पानी ग्रहण करे और उसी का उपयोग करे ।

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी ॥४॥
[दश० अ० ८, गा० ७]

यदि अपना शरीर सचित्त जल से भीग गया हो तो मुनि उसे पोंछे नहीं और घिस कर सुखाने का प्रयत्न करे नहीं । शरीर को भीगा देखकर उसका स्पर्श भी न करे अर्थात् शरीर सूखे तब तक उसे वैसा-का-वैसा रहने दे ।

विवेचन—शौचादि आवश्यक कार्यों से निपटने के लिये गाँव से बाहर जाते समय यदि वर्षा हो जाय और शरीर भीग जाय तो उस समय क्या करना चाहिये—यह इस गाथा में बतलाया गया है ।

आयतेयं न इच्छति, पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥५॥
[दश० अ० ६, गा० १२]

धारा १०

साधु का आचरण

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे।
तिविहेण करणजोएणं, संजए सुसमाहिए ॥१॥

[दश० अ० ८, गा० ४]

समाधिस्थ संयमी पुरुष—पृथ्वी, दीवाल, पाषाण, शिला तथा ईंटों को तीन करण और तीन योग से तोड़े नहीं तथा उनके टुकड़े भी करे नहीं।

विवेचन—करना, कराना और करनेवाले का अनुमोदन करना—ये तीन करण कहलाते हैं। जबकि मन वचन और काया—ये तीन योग कहलाते हैं। अतः साधु को चाहिए कि वह मन वचन और काया से ये क्रियाएं न करे, दूसरे के पास न करवाये और कोई करता हो तो उसका अनुमोदन भी न करे।

सुद्धपुढवीए न निसीए, ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥२॥

[दश० अ० ८, गा० ५]

इसी प्रकार आसन के अतिरिक्त जमीन पर अथवा सजीव पृथ्वी पर धूल से ही सने हुए आसन पर बैठे नहीं। यदि बैठने की

आवश्यकता पड़ जाय तो स्वामी की आज्ञा लेकर अचित्त पृथ्वी पर प्रमार्जना (योग्य साफ-सफाई) कर बैठे।

सीओदग न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ॥३॥
[दश अ ८, गा ६]

संयमी पुरुष (नदी कुआँ तालाब आदि के) ठंडे पानी का उपयोग न करे, वर्षा के पानी को काम में न लावे और बर्फ के पानी का भी उपयोग न करे। वह सदा खूब उबले हुए निर्जीव पानी ग्रहण करे और उसी का उपयोग करे।

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी ॥४॥
[दश अ ८, गा ७]

यदि अपना शरीर सचित्त जल से भीग गया हो तो मुनि उसे पोंछे नहीं और घिस कर सुखाने का प्रयत्न करे नहीं। शरीर को भीगा देखकर उसका स्पर्श भी न करे अर्थात् शरीर सूखे तब तक उसे वैसा-का-वैसा रहने दे।

विवेचन—शौचादि आवश्यक कार्यों से निपटने के लिये गाँव से बाहर जाते समय यदि वर्षा हो जाय और शरीर भीग जाय तो उस समय क्या करना चाहिये—यह इस गाथा में बतलाया गया है।

जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥५॥
[दश अ ६, गा ३२]

साधु कभी भी आग को प्रकट करने की अथवा उसे बुझाने की इच्छा नहीं करते, क्योंकि वह (अनेक जीवों का अहित करनेवाली होने से) पापकारी है और अन्य शस्त्रों की अपेक्षा अत्यन्त तीक्ष्ण भी है। वह सब ओर से सहन न हो सके ऐसी है। तात्पर्य यह कि अन्य शस्त्रों के तो एक ओर ही धार होती है, जबकि अग्नि के सब ओर धार होती है।

भूयाण एसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥६॥

[दश० अ० ६, गा० ३५]

अग्नि प्राणिमात्र के लिए घातक है इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः संयमी पुरुष प्रकाश अथवा ताप प्राप्त करने के लिए उसका आरम्भ नहीं करते, अर्थात् प्रज्वलित नहीं करते।

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं।
न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥७॥

[दश० अ० ८, गा०]

मुनि को चाहिये कि वह कोयला, अग्नि, ज्वाला या ज्योति सहित अधजली लकड़ी को कभी ज्यादा प्रज्वलित करे नहीं, उसका स्पर्श भी करे नहीं और उसे बुझाये भी नहीं।

अगणिस्स समारम्भं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहि सेवियं ॥८॥

[दश० अ० ६, गा० ३६]

ज्ञानीजन वायुकाय के समारम्भ को भी वैसा ही (अग्नि के समारम्भ के समान ही बहुत पापकारी) मानते हैं। अतः षट्काय का रक्षक साधु उसका कदापि सेवन न करे।

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं ॥९॥
[दश अ ६, गा १०]

साधु ताडपत्र के पंखे से अथवा वृक्ष की टहनी को हिलाकर हवा खाने की अथवा वायुसेवन की चेष्टा करते नहीं। इसी तरह दूसरे के तन ऊपर हवा करने का आग्रह करते नहीं और अन्य पदार्थ पर भी (गरम दूध को ठंडा करने आदि के लिये) पंखा का उपयोग करते नहीं।

तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई।
आमगं विविहं बीयं, मणसा वि न पत्थए ॥१०॥
[दश अ ८, गा १]

संयमी भिक्षु तृण वृक्ष फल अथवा किसी वृक्ष की जड़को कभी काटने का प्रयास न करे। वैसे ही भिन्न भिन्न प्रकार के सचित्त बीजों का सेवन करने की मनसे भी इच्छा न करे।

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिंगपणगेसु वा ॥११॥
[दश अ ८, गा० ११]

मुनि वृक्ष-निकुंजों में वास न रहे (क्योंकि वहाँ वनस्पति का स्पर्श होना सम्भव है)। इसी प्रकार जहाँ बीज पड़े हुए हों अथवा हरी वनस्पति उगी हुई हो वहाँ भी वास न रहे। साथ ही जहाँ अनन्तकाय वनस्पति किसी के टोप अथवा सील-फूग लगे हुए हों वहाँ भी वास न रहे।

अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा ॥१२॥

[दश० अ० ८, गा० १५]

संयमी मुनि (आगे कहे गये) आठ प्रकार के सूक्ष्मजीवों से परिचित होने के कारण सभी जीवों के प्रति दया का अधिकारी होता है। अतः वह इन सभी जीवों को अच्छी तरह से देख भालकर उठे, बैठे अथवा सोए।

कयराइं अट्ठसुहुमाइं ? जाइं पुच्छिज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी आइक्खिज्ज वियक्खणो ॥१३॥
सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं बीयहरियं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥१४॥

[दश० अ० ८, गा० १४-१५]

जब साधु पूछे कि वे आठ जीव कौन से हैं ? तब बुद्धिमान् और विचक्षण आचार्य इनका निम्नानुसार वर्णन करते हुए उत्तर दे :— (१) स्नेहसूक्ष्म—अर्थात् अप्काय के सूक्ष्मजीव। (२) पुष्पसूक्ष्म—अर्थात् वटवर्गपुष्प। (३) प्राणिसूक्ष्म—अर्थात् कुंथु आदि सूक्ष्म जन्तु।

(४) पनकसूक्ष्म—अर्थात् वर्षा में लकड़ी आदि पर रहनेवाले पंचवर्णी जीव-पुंज। (५) उत्तिंगसूक्ष्म—अर्थात् चींटियों का स्थान उसई या पर आदि। (६) बीजसूक्ष्म—अर्थात् सूक्ष्म प्रकार के धान्यादि के बीज। (७) हरित सूक्ष्म—अर्थात् नये उत्पन्न हुए पृथ्वी के समान रंग वाले अङ्कुर और (८) अण्डसूक्ष्म—अर्थात् मक्खी चींटी आदि के अति सूक्ष्म अण्ड।

एवमेयाणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदियसमाहिए ॥१५॥
[दस अ ८, गा १६]

सर्व इन्द्रियों को शान्त रखनेवाला साधु उपर्युक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को बराबर पहचान कर सदा प्रमादरहित वर्तन करे और तीन करण और तीन योग से संयत बने।

तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥१६॥
[दस अ ८, गा १२]

सर्व प्राणियों की हिंसा से विरक्त बना साधु इस संसार में छोटे बड़े सभी जीवों के जीवन में कैसी-कैसी विचित्रताएँ व्याप्त हैं—इसे विवेकपूर्वक जानकर किसी भी त्रस प्राणी की मन वचन और काया से हिंसा न करे।

इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥१७॥
[दस अ ४ गा २९

इस प्रकार सतत सावधान और सम्यग्‌दृष्टिवाला मुनि दुर्लभ श्रमणत्व को प्राप्त करके इन षड्‌निकाय के जीवों की मन-वचन काया से किसी प्रकार की विराधना न करे।

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइ, आयारा परिभस्सइ ॥१८॥

[दश० अ० ६, गा० ५]

जो मुनि गृहस्थ की काँसी आदि धातु की कटोरी और थाली में तथा मिट्टी के पात्र में खान-पान आदि का भोजन करता है, वह अपने आचार से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है।

सीओदगसमारंभे, मत्तधोयणछड्डणे।
जाइं छन्नति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥१९॥

[दश० अ० ६, गा० ५१]

गृहस्थ बर्तनों को धोते और मांजते हैं जिससे सचित्त जल का आरम्भ होता है। ठीक वैसे ही बर्तन धोने के बाद उस गन्दे जल को इधर-उधर फेंक देते हैं उससे अनेक जीवों की हिंसा होती है। इसलिये गृहस्थों के बर्तनों में भोजन करने में ज्ञानियों ने असंयम देखा है।

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥२०॥

[दश० अ० ६, गा० ५२]

गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करने से पश्चात्‌ कर्म और पुरःकर्म

का दोष लगने की सम्भावना होती है। अतः साधु के लिये यह कार्य उपयुक्त नहीं है। ऐसा सोचकर निर्ग्रन्थ मुनि गृहस्थ के बर्तनों में कभी भोजन नहीं करते।

विवेचन—खा लेने के पश्चात् सचित्त जल से बर्तन धोना इसे पश्चात्-कर्म और खाने से पूर्व सचित्त जल से बर्तन धोने को पुरः कर्म कहते हैं।

आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥२१॥
नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए।
निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥२२॥
[दश अ ६ गा ५३।५४]

आर्यसाधु अर्थात् निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिये कुर्सी पलंग खटिया अथवा आरामकुर्सी आदि पर बैठना अथवा सोना अनाचार माना गया है। सर्वज्ञ का कहा हुआ अनुष्ठानादि में तत्पर निर्ग्रन्थ साधु कुर्सी पलंग आदि तथा बेंत से भरा हुआ पल्यि पर बैठे अथवा सोये नहीं क्योंकि उसका पडिलेहण बराबर हो सकता नहीं।

विवेचन—पडिलेहण का अर्थ है प्रतिलेखना सूक्ष्म निरीक्षण। साधुओं को वस्त्र-पात्र आदि को दिन में दो बार प्रतिलेखना करनी पड़ती है। इस वक्त कोई जीव-जन्तु दिखने में आ जाय तो उसे तक-लीफ न पहुँचे इस तरह हटाया जाता है।

गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदीपलियङ्का य, एयमट्ठं विवज्जिया ॥२३॥
[दश० अ० ६, गा० ५५]

कुर्सी पलङ्ग आदि मे गहरे छिद्र होने से प्राणियों की प्रतिलेखना होना कठिन है। इसलिये मुनियों को इनपर बैठना छोड़ देना चाहिये।

गोयरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहियं ॥२४॥
विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥२५॥
अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥२६॥
[दश० अ० ६, गा० ५६-५७-५८]

गोचरी (मधुकरी) के निमित्त गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने के पश्चात् साधु को वहाँ बैठना अनाचार है, जिसका वर्णन आगे करेंगे। इससे मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है।

गृहस्थ के घर बैठने से साधु के ब्रह्मचर्य का भंग होने की तथा प्राणियों का वध होने की पूरी सम्भावना होने से संयमनाश का भय बना रहता है। साथ ही कोई भिखारी भिक्षा के लिये आये तो उसे अन्तराय होने की भी सम्भावना रहती है। ठीक वैसे ही गृहस्थ को क्रोध आ जाय यह भी सम्भव है।

गृहस्थ के घर जाकर बैठने से ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का यथार्थ पालन नहीं हो सकता (क्योंकि वहाँ पर स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग देखने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है) और गृहस्थ की स्त्री के साथ अतिपरिचय होने से दूसरों को मुनि के चरित्र के विषय में शंका करने का अवसर मिल जाता है। इसलिये ऐसी कुशीलता को बढ़ानेवाले स्थान से मुनि दूर रहकर ही उसका त्याग करे। तात्पर्य यह कि वह गृहस्थ के यहाँ जाकर बैठने का सदैव के लिए बंद ही कर दे।

> वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
> वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥२७॥
> संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु य।
> जे य भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पिलावए ॥२८॥
> तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा।
> जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥२९॥
>
> [दश० अ० ६ गा ६०-६१-६२]

रोगी हो या निरोगी जो साधु स्नान करने की इच्छा करता है वह निश्चय ही आचार से भ्रष्ट होता है और संयमहीन बनता है।

क्षारभूमि अथवा ऐसी ही अन्य भूमियों में प्रायः सूक्ष्म प्राणी व्याप्त होते हैं। इसलिये साधु प्रासुक—उष्णजल से स्नान करे तो भी उसकी विराधना हुए बिना नहीं रहती अर्थात् अवश्य होती है। इसी कारण शुद्ध संयम का पालन करनेवाले साधु ठंडे अथवा गरम

पानी से कदापि स्नान नहीं करते और जीवन पर्यन्त अस्नान नामक अति कठिन व्रत का पालन करते हैं।

सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥२॥
[दश० अ० ६, गा० ६४]

संयमी पुरुष स्नान नहीं करते तथा चन्दन-कल्क-चूर्ण लोध्र केशर आदि सुगन्धित पदार्थों का उपयोग अपने शरीर पर उबटन करने के लिये कभी नहीं करते।

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥११॥
विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥१२॥
[दश० अ० ६, गा० ६६-६७]

विभूषा के कारण साधु को चिकने कर्मों का बन्धन होता है उससे वह घोर दुस्तर संसारसागर में गिरता है।

ज्ञानी पुरुष स्नान को शारीरिक विभूषा और चिकने कर्मबन्धन का कारण और बहुत से पापों की उत्पत्ति का हेतु मानते हैं। अतः छःकाय के जीवों की रक्षा करनेवाले मुनि इसका सेवन कदापि नहीं करते।

सुरं वा मेरगं वा वि, अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥१३॥
[दश० अ० ५ उ० २, गा० ३६]

अपने संयमरूपी यश का संरक्षक भिक्षु सर्वज्ञ की साक्षी में सदा परित्यक्त ऐसी सुरा मदिरा तथा मद उत्पन्न करनेवाले अन्य किसी भी रस का पान न करे।

पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं नियडिं च सुणेह मे ॥३४॥
[दश अ ५, उ २, गा० ३७]

'मुझे कोई नहीं देखता है" ऐसा मानकर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला चोर साधु एकान्त में गुप्तरूप से मदिरापान करता है। उसके दोषों को देखो। साथ ही उसके मायाचार का जो मैं वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो—

वड्ढइ सुंडिया तस्स, माया मोसं च भिक्खुणो।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥३५॥
[दश अ ५, उ० २ गा ३८]

मदिरापान करनेवाले साधु में आसक्ति, माया मृषावाद, अपयश, अतृप्ति आदि दोष बढ़ते ही रहते हैं। साथ ही साथ उसकी असाधुता भी सतत बढ़ती ही रहती है।

आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्था वि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥३६॥
[दश० अ ५, उ २, गा ४]

मदिरापान करनेवाला विचारमूढ साधु न तो आचार्य की सेवा कर सकता है और न ही साधुओं की। यह साधु तो मदिरा पीता

है ऐसी बात जब गृहस्थों के ध्यान में आ जाती है तब वे भी उसकी निन्दा करने लगते हैं।

> तवं कुव्वइ मेहावी, पणीयं वज्जए रसं।
> मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥१७॥
> [दश० अ० ५ उ० २, गा० ४२]

मेधावी साधु तप करता है और स्निग्ध रसों का त्याग करता है। फिर वह मद्यपान और प्रमाद से विरत होकर निरभिमानी तपस्वी होता है।

> मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं।
> सकवाडं पण्डुरुल्लोयं, मणसा वि न पत्थए ॥१८॥
> इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
> दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ॥१९॥
> [उत्त० अ० ३५, गा० ४-५]

जो घर मनोहर हो विविध चित्रों से सुशोभित हो पुष्पमाला और धूप से वासित हो, चंदोवे से सज्जित हो तथा किवाड़वाला हो ऐसे सुन्दर घर की साधु पुरुष मन से भी इच्छा न करे।

क्योंकि ऐसे विषय-वासनावर्धक प्रवृत्तियों में वृद्धि करनेवाले स्थान में रहने से विषय भोग की ओर प्रवृत्त होती इन्द्रियों का निवारण करना साधु के लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है।

> सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
> पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥२०॥
> [उत्त० अ० ३५, गा० ६]

साधु पुरुष हमेशा स्मशान, शून्य गृह, वृक्ष के नीचे अथवा गृहस्थ द्वारा उसके लिये बनाये गये परकृत एकान्त स्थान में अकेला रहना पसन्द करे।

फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥४१॥

[उत्त० अ० ३५, गा० ७]

परमसंयमी साधु ऐसे स्थान में रहने का संकल्प करे कि जो जीवों की उत्पत्ति से रहित हो, स्व-पर बाधाओं से रहित हो और स्त्री-पशु आदि के उपद्रव से शून्य हो।

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुओ तव।
इच्चेव णं निमंतेन्ति, नीवारेण व सूयरं ॥४२॥

[सू श्रु १ अ ३, उ २ गा १९]

'हे मुनिवर! बहुत समय से संयमपूर्वक विहार करनेवाले आप जैसी महान् आत्मा को भला दोष कैसे लग सकता है?' इस प्रकार भोग भोगने का आमन्त्रण देकर लोग साधु को इस तरह फंसाते हैं जैसे चावल के दाने से सूअर को।

धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं,
जन्नग्गिविज्झायमिवऽप्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला,
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ॥४३॥

[दश चू १ गा १२]

संयमभ्रष्ट मनुष्य दत्तचित्त से भोगों का उपभोग करके तथा अनेक प्रकार के असंयमों का सेवन करके दुःखद अनिष्ट गति में जाता है। और परिणामस्वरूप बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमता रहता है। उसे बोधि सुलभ नहीं होती।

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥४६॥
[दश० अ० ३ गा० १२]

सुसमाधियुक्त चित्तवाले संयमी पुरुष ग्रीष्मकाल में सूर्य की आतापना लेते हैं, शीतकाल में निर्वस्त्र रहते हैं तथा वर्षाकाल में एक स्थान पर अंगोपांग का गोपन कर स्थिर रहते हैं।

परीसहरिऊदंता, धूयमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥४७॥
[दश० अ० ३ गा० १३]

महर्षिगण परीषहरूपी शत्रुओं को जीतनेवाले मोहरहित तथा जितेन्द्रिय होते हैं। वे सब दुःखों का नाश करने के लिए अद्भुत पराक्रम करते हैं।

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइ त्थ देवलोएसु, केई सिज्झंति नीरया ॥४८॥
[दश० अ० ३, गा० १४]

दुष्कर करनी करके तथा असह्य कष्ट सहन कर कितनेक मुनि देवलोक में जाते हैं और कितनेक कर्मरहित होकर सिद्धिपद प्राप्त करते हैं।

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे ॥४९॥
[दश० अ० ३ गा० १५]

संयम के साधक मुनिगण संयम और तप द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का मूल से क्षय कर सिद्धि-मार्ग को प्राप्त करते हुए मुक्ति-पद को पाते हैं।

जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥५० ॥
[उत्त० अ० १७, गा० ३]

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् जो खूब निद्रालु बनता है और खा-पीकर निश्चिन्त हो सोता है वह पापश्रमण (पापमय प्रवृत्ति करनेवाला साधु) कहलाता है।

कहं चरे? कहं चिट्ठे? कहमासे? कहं सए?
कहं भुंजन्तो भासन्तो? पावं कम्मं न बन्धइ ॥५१॥
[दश० अ० ४, गा० ७]

(शिष्य गुरु से पूछता है कि हे पूज्य!) कैसे चलना? कैसे खड़ा रहना? कैसे बैठना? कैसे सोना? कैसे खाना और कैसे बोलना कि जिससे पापकर्म का बन्धन न होवे?

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजन्तो भासन्तो, पाव कम्मं न बंधइ ॥५२॥
[दश० अ० ४ गा० ८]

(प्रश्नोत्तर में गुरु कहते हैं कि हे शिष्य!) उपयोगपूर्वक चलना, उपयोगपूर्वक रहना उपयोगपूर्वक बैठना उपयोगपूर्वक सोना उपयोगपूर्वक खाना और उपयोगपूर्वक बोलना। इस प्रकार का आचरण करने पर पापकर्म नहीं बंधते।

विवेचन—यहाँ उपयोग शब्द का अर्थ जागृति सावधानी समझना चाहिये। उपयोगवान् आत्मा को हर वक्त यह ख्याल रहता है कि मेरी प्रवृत्ति से कोई जीव मर न जाय मेरे से कोई भूल न हो जाय।

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥५३॥
[दश. अ. ४ गा. ९]

जो प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के समान मानता है उनपर समभाव रखता है तथा पापास्रवों को रोकता है ऐसे दमितेन्द्रिय संयमी पुरुष को पापकर्म का बन्धन नहीं होता।

अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए ॥५४॥
[सू. श्रु. १ अ. ८, गा. २५]

मुनी पुरुष थोड़ा खाये थोड़ा पिये और थोड़ा बोले। वह क्षमावान् बने, लोभादि से निवृत्त रहे जितेन्द्रिय होवे अनासक्त होवे तथा सदाचार में सदा प्रयत्नशील रहे।

तत्थ मन्दा विसीयन्ति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा ।
पिट्ठओ परिसप्पन्ति, पिट्ठसप्पी व संभमे ॥४४॥

[सू० श्रु १, अ ३, उ २, गा २]

मन्द पराक्रमी पुरुष सचित्त जल-धान्यादि के परिभोग के बोझ से मार उठाकर थके हुए गधे के समान संयम में शिथिल बनते हैं और संयम से भग्न मतिवाले होकर जीवन के हर क्षेत्र में पिछड़ गये लोगों की तरह संयमियों की श्रेणी में पीछे रह जाते हैं।

त च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥४६॥

[सू० श्रु० १ अ ३, उ० २, गा १३]

श्रेष्ठधर्म का श्रवण कर तथा संसार के सब रिश्ते और सम्बन्धों को कर्म-बन्धन का महा प्रवेशद्वार समझकर भिक्षु असंयमी अथवा गृहस्थ-जीवन की इच्छा न करे।

विजहित्तु पुव्वसंजोगं,
न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा ।
असिणेहसिणेहकरेहिं
दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥४७॥

[उत्त अ ८, गा २]

पूर्व संयोगों को छोड़ देने के पश्चात् भिक्षु पुनः किसी भी वस्तु के प्रति स्नेह न करे—मोह न रखे। स्नेह करनेवालों के बीच जो

निस्नेही—निर्मोही बना रहता है वह सभी प्रकार के दोष-प्रदोषों से मुक्त हो जाता है।

अत्थं गयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥५८॥
[दश अ ८, गा २८]

संयमी पुरुष को सूर्यास्त होने के पश्चात् और सूर्योदय होने से पूर्व किसी प्रकार के आहार आदि की इच्छा मन में नहीं करनी चाहिये।

सन्ति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ॥५९॥
[दश अ ६, गा २३]

इस धरती पर ऐसे त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव सर्वत्र व्याप्त रहते हैं जो रात्रि के अन्धकार में दीख नहीं पड़ते। अतः ऐसे समय में भला आहार की शुद्ध गवेषणा किस प्रकार हो सकती है?

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निव्वडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥६०॥
[दश अ ६, गा २४]

पानी से जमीन भीगी हो, ऊपर बीज गिर गये हों, अथवा चींटी-कुंथवा—आदि अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव हों उन सब का वर्जन करके दिन में तो चला जा सकता है पर रात्रि में कुछ दिखाई नहीं पड़ता। अतः भला किस तरह चला जा सकता है?

सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥६१॥

[दस० अ० ६, गा० २]

सभी तो निर्ग्रन्थो रात्रिभोजन करते नहीं रात्रि में किसी प्रकार का आहार उपयोग मे लेते नहीं।

चउव्विहे वि आहारे, राइभोयणवज्जणा।

सन्निही-संचओ चेव, वज्जेयव्वा सुदुक्करं ॥६२॥

[उत्त० अ० १९ गा० ३]

अशन पान खादिम और स्वादिम इस चार प्रकार के आहार का रात्रि मे त्याग करना और समय बीत जाने के पश्चात् कुछ भी पास मे नहीं रखना ठीक वैसे ही उसका संग्रह नहीं करना—यह बात वास्तव मे अत्यन्त कठिन है (किन्तु संयमी पुरुष को तो ये कठिनाइयाँ सहन करनी ही चाहिये।)

धारा १८

अष्ट प्रवचनमाता

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१॥

प्रवचनमाता के आठ प्रकार हैं। वह समिति और गुप्तिरूप है। उसमें पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ कही गई हैं।

विवेचन—साधु, मुनि अथवा योगी के जीवन में अष्ट-प्रवचन माता अति आवश्यक अङ्ग की पूर्ति करती है। इन आठ प्रकार की प्रवचनमाताओं का एक नाम समिति और दूसरा नाम गुप्ति कहा जाता है। समिति का सीधा अर्थ है संगति अथवा सम्यक् प्रवृत्ति और गुप्ति का अर्थ है समस्त प्रवृत्ति-रहित अप्रशस्त प्रवृत्ति का निरोध। परन्तु गहराई से देखें तो समिति में साधु, मुनि अथवा योगी के जीवन की समस्त जीवनचर्या का समावेश है जबकि गुप्ति में उसके पालन योग्य साधनों का समावेश है।

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२॥

पाँच समितियाँ इस प्रकार हैं :—(१) ईर्यासमिति (२) भाषा समिति (३) एषणासमिति, (४) आदान निक्षेप समिति और

(५) उच्चारप्रस्रवण-समिति। तीन गुप्तियाँ ये हैं —(१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। कायगुप्ति आठवीं है अतः इसके साथ अष्ट प्रवचनमाता की गणना पूरी होती है।

एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥३॥

ये आठ समितियाँ संक्षेप में कही गई हैं। प्रवचन अर्थात् जिन भगवन्तों द्वारा कथित द्वादशाङ्गी। वह इन आठ समितियों में अन्तर्भूत है इसीलिये इन्हें अष्ट-प्रवचनमाता कहा जाता है।

विवेचन—जबकि ऊपर पाँच समिति और तीन गुप्ति कहा गया है तो फिर यहाँ आठ समिति कैसे हो गई? ऐसा प्रश्न मन में उठना सम्भव है। इसका समाधान यह है कि गुप्ति भी अपेक्षाविशेष से एक प्रकार की समिति है और यह निर्दिष्ट करने के लिये ही यहाँ 'आठ समिति' ऐसा कहा गया है। देवाधिदेव श्री जिनेश्वर भगवान् ने जो उपदेश दिया, उसे गणधर भगवन्तों ने आचारादि बारह अङ्गों में ग्रथित किया। उसको ही निर्ग्रन्थ प्रवचन अथवा प्रवचन कहा जाता है। इस प्रवचन में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों का वर्णन है तथापि उसमें मोक्षप्राप्ति के अनन्तर कारणरूप सम्यक् चारित्र की ही प्रधानता है जिसे अन्य शब्दों में निर्जरात्मक योग-साधना भी कहते हैं। इस योगसाधना को माता के समान रक्षण करनेवाली और इसका पालन-पोषण करने वाली ये आठ समितियाँ हैं। इसलिये इनका 'अष्ट प्रवचनमाता' ऐसा रहस्यमय नाम दिया गया है।

आलंबणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ॥४॥

साधुपुरुष को आलम्बन, काल, मार्ग और यतनादि चार कारणों की शुद्धिपूर्वक ईर्यासमिति का पालन करना चाहिये।

विवेचन—ईर्यासमिति का वास्तविक अर्थ है चलते समय कोई भी जीव न मरे, इसकी पूरी सावधानी रखना।

तत्थ आलंबणं नाणं, दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए ॥५॥

इनमें आलम्बन से ज्ञान दर्शन और चारित्र को निर्दिष्ट किया गया है जबकि काल से दिन और मार्ग से उत्पथ का परिवर्जन।

विवेचन—आलम्बन की शुद्धिपूर्वक चलना अर्थात् ज्ञान-दर्शन चारित्र की रक्षा अथवा वृद्धि के हेतु ही सभी साधुपुरुष को चलना चाहिये अन्यथा नहीं। काल की शुद्धिपूर्वक चलना अर्थात् दिन में ही चलना चाहिये रात्रि में नहीं। मार्ग की शुद्धिपूर्वक चलना अर्थात् सभी के लिए निश्चित आवागमनवाले मार्ग में ही चलना, किन्तु टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर नहीं चलना। टेढ़े मेढ़े ऊबड़-खाबड़ मार्गपर चलने से जीवाकुल भूमि पर पैर गिरने की सम्भावना रहती है जिससे बहुत जीवों की विराधना होना सम्भव है।

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥६॥

यतना द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से, इस तरह चार प्रकार की कही गई है जिसका वर्णन करता हूँ उसे सुनो।

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खित्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

द्रव्य से यतना करना अर्थात् आंख से बराबर देखना। क्षेत्र से यतना करना अर्थात् आगे की एक युग जितनी भूमि का निरीक्षण करते रहना। काल से यतना करना अर्थात् जहाँ तक चलने की क्रिया चालू रहे वहाँ तक यतना करना और भाव से यतना करना अर्थात् उस समय पूर्णरूप से सावधानी रखना।

इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते रियं रिए ॥८॥

मुनि इन्द्रिय के अर्थ तथा पांच प्रकार के स्वाध्याय का परित्याग करे और ईर्यासमिति को प्रधानता देकर उसमें तन्मय हो सावधानी से चले।

विवेचन — ईर्यासमिति के बारे में दूसरी सूचना यह है कि चलते समय इन्द्रियों के विषय में अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श सम्बन्धी अनुकूल-प्रतिकूल कोई विचार नहीं करना। यदि मन में ऐसे विचारों का उत्थान आ गया तो सावधानी नहीं रहेगी और किसी जीव जन्तु के पैरों के नीचे आ जाने से उसकी विराधना होगी।

स्वाध्याय अर्थात् पठन-पाठन से सम्बन्धित प्रवृत्ति। जिन-शासन में स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा

ऐसे पाँच प्रकार बतलाये गये हैं। चलते समय इन पाँच प्रकार के स्वाध्यायों में भी मन को नहीं उलझाना चाहिए। मन में पाठ चलता हो अथवा उसके अर्थ के बारे में किसी के साथ वार्तालाप हो रहा हो या फिर उसकी पुनरावृत्ति होती हो तो चलते समय सावधानी नहीं बरती जाती। इसी प्रकार यदि मन उसके गहरे चिन्तन मे खो गया हो तो स्वयं कहाँ चल रहे हैं ? और किस तरह चल रहे हैं ? इसका भी उन्हे ध्यान नहीं रहता। साथ ही उस समय किसी को धर्मकथा सुनाने का काम जारी हो तो भी चलने मे अपेक्षित सावधानी नहीं रहती। इन्हीं कारणों से इन दोनों वस्तुओं के विषय की आज्ञा की गई है।

> कोहे माण य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
> हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥६॥
>
> एयाइं अट्ठ ठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
> असावज्ज मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥१०॥

भाषासमिति का अर्थ यह है कि प्रज्ञावान् मुनि क्रोध, मान माया लोभ का उपयोग हास्य भय वाचालता और विकथा आदि आठ स्थानों का त्याग कर योग्य समय पर परिमित और निरवद्य वचन ही बोले।

> गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा।
> आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए ॥११॥

एषणासमिति के तीन भेद हैं—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा। आहार, उपधि और शय्या के समय इन तीनों के बारे में पूरी शुद्धि रखनी चाहिए।

उग्गमुप्पायणं पढमे, बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जयं जई ॥१२॥

यतनावान् साधु प्रथम एषणा में उद्गम-उत्पादन दोष की शुद्धि करे, दूसरी एषणा में शंकितादि दोषों की शुद्धि करे और तीसरी परिभोगैषणा में संयोजना, मोह, कारण और प्रमाण—इन चारों दोषों की शुद्धि करे।

विवेचन—गवेषणा करते समय सोलह उद्गम के और सोलह उत्पादन के—कुल मिलकर ३२ दोष टालने पड़ते हैं। जबकि ग्रहण करते समय शंकितादि १ दोष। इस प्रकार कुल ४२ दोष टालकर आहारादि की एषणा करनी चाहिये। इन ४२ दोषों का विस्तार से वर्णन पिण्डनिर्युक्ति में किया गया है। परिभोग करते समय संयोजना, मोह, कारण और प्रमाणादि चारों की निर्दोषता के बारे में पूरा निर्णय कर लेना चाहिये। शरीर से साधु को अपनी आजीविका के लिये आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, औषधि, शय्या आदि जो कुछ भी प्राप्त करना—उपभोग करना आवश्यक रहता है, वह सब शास्त्रप्रदर्शित विधिपूर्वक प्राप्त करने—उपभोग करने से इस समिति का पालन हुआ ऐसा माना जाता है।

ओहोवहोवग्गहियं, भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो वा, पउंजेज्ज इमं विहिं ॥१३॥

पात्र आदि ओघोपधि कहलाते हैं और संस्तारक (शय्या) आदि औपग्रहिक उपधि कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार की उपधियों को ग्रहण करते समय तथा स्थापित करते समय मुनि को इस विधि का पालन करना चाहिये —

चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओ वि समिए सया ॥१४॥
[उत्त० अ० २४ गा १-१४]

यतनावान् साधु आँख से देखकर दोनों प्रकार की उपधि को प्रमार्जना करे तथा उपधि को उठाने से पूर्व और रखते समय इस समिति का सदा पूरी तरह से पालन करे।

संथार फलग पीढं, निसिज्जं पायकम्बलं ।
अप्पमज्जियमारुहई, पावसमणित्ति वुच्चई ॥१४॥
[उत्त० अ० १७, गा ७]

जो साधु संस्तारक (शय्या) फलक पीठ पादपोंछन और स्वाध्यायभूमि इन पदार्थों का प्रमार्जन किये बिना ही बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकम्बलं ।
पडिलेहा अणाउत्ते, पावसमणित्ति वुच्चइ ॥
[उत्त० अ० १७, गा ६]

जो (साधु) प्रतिलेखना में प्रमाद करता है, पात्र-कम्बल आदि

अव्यवस्थित रखता है और प्रतिलेखना मे पूर्ण सावधानी नही रखता है वह पापश्रमण कहलाता है।

> धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकम्बलं ।
> सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवासणं ॥१७॥
>
> [दश० अ० ८, गा० १७]

साधु को चाहिये कि वह नियमित रूप से यथासम्भव पात्र कम्बल शय्या-स्थान उच्चारभूमि (मलविसर्जन का स्थान), संस्तारक और आसन आदि को सावधानीपूर्वक प्रतिलेखना करे।

> पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाण ।
> पडिलेहणापमत्तो, छण्ह पि विराहओ होइ ॥१८॥
>
> [उत्त० अ० २६, गा० ३]

प्रतिलेखना मे प्रमाद करनेवाला साधु पृथ्वीकाय, अप्काय तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय इन छहों कायों का विराधक होता है।

> पुढवी-आउक्काए तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
> पडिलेहणाआउत्तो छण्हं संरक्खओ होइ ॥१९॥
>
> [उत्त० अ० २६, गा० ३१]

प्रतिलेखना मे जो सावधान रहनेवाला साधु पृथ्वीकाय अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय इन छहों कायों का सरक्षक होता है।

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं ॥२०॥
[उत्त० अ० २४ गा १५]

मल मूत्र, कफ, नाक का मल शरीर का मैल, आहार, उपधि देह (शव तथा ऐसी अन्य वस्तुओं को विधिपूर्वक परठवनी ठिकाने लगानी) चाहिये ।

विवेचन—उच्चार-प्रस्रवण-समिति को परिष्ठापनिका-समिति भी कहते हैं । बेकार वस्तुओं का सावधानीपूर्वक परिष्ठापन करने से—ठिकाने लगाने से इस समिति का पालन होता है । मल मूत्र कफ, नासिका का मल शरीर का मैल परठवने (ठिकाने लगाने) का प्रसंग प्रतिदिन आता है जबकि आहार परठवने (ठिकाने लगाने) का प्रसंग तो क्वचित ही आता है । उपधि को परठवने (ठिकाने लगाने) का प्रसंग वर्षाकाल मे पूर्व आता है और शव को परठने (ठिकाने लगाने) के प्रसंग कभी-कभी आते हैं । ये सभी वस्तुएँ कहाँ रखनी चाहिये ? इसकी सूचना अगली गाथाओं में दी गई है ।

अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए ।
आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥२१॥
अणावायमसंलोए, परस्सणुवघाइये ।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयंमि य ॥२२॥
विच्छिन्ने दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाण बीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥२३॥
[उत्त० अ० २४ गा १६-१७-१८]

(१) जहाँ किसीके आने की सम्भावना न हो और कोई देखता भी न हो (२) जहाँ किसीके आने की सम्भावना न हो किन्तु कोई देखता हो (३) जहाँ कोई आता हो किन्तु देखने की सम्भावना न हो और (४) जहाँ कोई आता भी हो और देखता भी हो, ऐसे चार स्थानों में से जहाँ कोई आता भी नहीं हो और कोई देखता भी नहीं हो ठीक वैसे ही जहाँ जीवों का घात होने की सम्भावना न हो जो स्थान सम हो छिद्रवाला न हो और थोड़े समय से अचित्त बना हुआ हो जो स्थान विस्तृत हो नीचे दीर्घकाल तक अचित्त हो जो ग्रामादि के समीप न हो और चूहे आदि के बिल से रहित तथा कीटादि प्राणी और बीज से रहित हो ऐसे स्थान पर साधु को मलादि का त्याग करना चाहिये।

एयाओ पंच समिईओ, समासेण वियाहिया।
इत्तो य तओ गुत्तीओ वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥२७॥
[उत्त० अ० २४, गा० १९]

ऊपर पाँच समितियों को मैंने संक्षेप में बताया है। अब तीन गुप्तियों को अनुक्रम से कहता हूँ।

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥२८॥
[उत्त० अ० २४ गा० २]

मनोगुप्ति चार प्रकार की है :—(१) सत्या (२) असत्या, (३) मिश्रा और (४) असत्यामृषा।

विवेचन—मन (१) सत्य, (२) असत्य (३) अर्ध-सत्य और अर्ध असत्य तथा (४) सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं ऐसे चार किस्मों मे प्रवृत्त होता है। इस लिए मनोगुप्ति का चार प्रकार माना गया है।

सरभसमारभे, आरंभे य तहेव य।
मण पवत्तमाण तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥२६॥
[उत्त अ॰ २४ गा २१]

संयमी पुरुष संरम्भ समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होते मन का नियन्त्रण करे।

विवेचन—आरम्भ अर्थात् जीवविराधना। उसके सम्बन्ध में संकल्प किया जाय वह सरम्भ और जो मानसिक प्रवृत्ति की जाय वह समारम्भ।

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ॥२७॥
[उत्त॰ अ॰ २३, गा॰ ५८]

मन एक साहसिक, भयकर और दुष्ट घोड़े के समान है, जो चारों ओर दौड़ता है।

साहरे हत्थपाए य, मण पंचेंदियाणि य।
पावक च परिणामं, भासादोसं च तारिसं ॥२८॥
[सू॰ श्रु॰ १ अ॰ ८, गा १७]

ज्ञानी पुरुष हाथ-पैर का संकोच करते हैं, मन और पाँच इन्द्रियों को वश मे रखते हैं और दुष्ट भावों को हृदय मे उठने नहीं देता। उसी तरह वह सावद्य भाषा का सेवन भी नहीं करता।

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
'न सा महं नो वि अहं पि तीसे,'
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥२९॥
[दश० अ० २, गा० ४]

समदृष्टिपूर्वक संयमयात्रा में विचरण करते हुए भी कदाचित् (परिभुक्त भोगों का स्मरण होने से अथवा अभुक्त भोगों के भोगने की वासना जागृत होने से) संयमी पुरुष का मन संयममार्ग से विचलित होने लगे तब उसे ऐसा विचार करना चाहिये कि 'विषय-भोगों की सामग्री मेरी नहीं है और मैं इनका नहीं हूँ।' इस प्रकार सुविचार के अंकुश से उसके मन में उत्पन्न अनिष्ट आसक्ति को दूर करे।

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा ॥३०॥
[उत्त० अ० २४ गा० २२]

वचनगुप्ति चार प्रकार की है :—(१) सत्य भाषा सम्बन्धी, (२) असत्य भाषा सम्बन्धी (३) सत्यासत्य भाषा सम्बन्धी और (४) असत्यामृषा भाषा सम्बन्धी।

संरम्भसमारम्भे आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥३१॥
[उत्त० अ० २४ गा० २३]

संयमी पुरुष संरम्भ समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होती वाणी पर सावधानी पूर्वक नियन्त्रण करे।

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे, इंदियाण य जुंजणे ॥२२॥
[उत्त अ० २४ गा २४]

संयमी पुरुष खड़ा रहने मे बैठने मे सोने में उल्लंघन—प्रलंघन करने में तथा इन्द्रियों के प्रयोग में सदा काया का नियन्त्रण करे।

संरंभसमारंभे, आरंभे तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥२३॥
[उत्त अ २४ गा २५]

संयमी पुरुष संरम्भ समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होती काया को सावधानी से नियन्त्रण करे।

मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयई ?
मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयई,
एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥२४॥
[उत्त अ २६, गा ५३]

प्रश्न—हे भगवन् ! मनोगुप्ति से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! मनोगुप्ति से जीव एकाग्रचित्त प्राप्त करता है और एकाग्रचित्तवाला मनोगुप्त जीव संयम का आराधक होता है।

वयगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ, निव्विकारे
णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ॥२५॥

[उत्त० अ० २९, गा० ५४]

प्रश्न—हे भगवन् ! वचनगुप्ति से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव को उत्पन्न करता है। और इसी निर्विकार भाव से वचनगुप्त जीव अध्यात्मयोग-साधन से युक्त होता है।

कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
कायगुत्तयाए संवरं जणयइ, संवरेण [णं जीवे]
कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥२६॥

[उत्त० अ० २९, गा० ५५]

प्रश्न—हे भगवन् ! कायगुप्ति से जीव क्या उपार्जित करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! कायगुप्ति से जीव संवर उत्पन्न करता है और संवर से कायगुप्त बना हुआ जीव पापास्रव का निरोध करता है।

एयाओ पंचसमिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२७॥

[उत्त० अ० २४, गा० २६]

इस तरह ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिये हैं और तीन गुप्तियाँ सर्व प्रकार की अशुभप्रवृत्तियों को रोकने के लिये हैं।

एआ पवयणमाया, जे सम्म आयरे मुणी।
से खिप्प सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥२८॥

[उत्त अ २४ गा० २७]

जो विद्वान् मुनि उपर्युक्त प्रवचन माताओं का सम्यग् आचरण करता है वह संसार परिभ्रमण से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

विवेचन—गृहस्थ साधक भी इन समिति-गुप्तियों का यथाशक्ति पालन करने पर चारित्र्यशुद्धि का लाभ प्राप्त कर सकता है।

धारा १६

भिक्षाचरी

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए ॥१॥

[उत्त० अ० ६, गा० १७]

संयमी साधु एषणासमिति का पालन करता हुआ गाँव में अनियतवृत्ति से अप्रमादी होकर गृहस्थों के घर से भिक्षा की गवेषणा करे।

समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिण्डवायं चरे मुणी ॥२॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १६]

मुनि को चाहिये कि वह सूत्रानुसार और अनिन्दित अनेक परिवारों से थोड़ा थोड़ा आहार ग्रहण करे और मिले अथवा न मिले तो भी सन्तुष्ट रहकर भिक्षावृत्ति का पालन करे।

भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा ॥३॥

[उत्त० अ० ३५ गा० १५]

भिक्षावृत्तिवाले भिक्षुक को भिक्षा का ही अवलम्बन करना चाहिये परन्तु मूल्य देकर कोई भी वस्तु नहीं खरीदनी चाहिये, क्योंकि क्रय विक्रय मे महादोष है और भिक्षावृत्ति सुख देनेवाली है।

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥४॥
[उत्त अ० १ गा० ३१]

साधु नियत समय पर भिक्षा के लिए जाए और वहाँ से यथा समय लौट आये। वह अकाल को छोड़कर योग्य काल में उसके अनुरूप क्रिया करे।

सइकाले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं।
अलाभुत्ति न सोएज्जा, तवोत्ति अहियासए ॥५॥
[दश० अ० ५, उ० २ गा० ६]

भिक्षुक समय होते ही भिक्षा के लिए जाए और यथोचित पुरुषार्थ करे। कभी भिक्षा नहीं मिले तो शोक न करे, परन्तु उस समय 'भले सहज तप होगा' ऐसा विचार कर क्षुधादि परीषहों को सहन करे।

संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कम्मजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥६॥
[दश० अ० ५ उ० १ गा० १]

भिक्षा का समय होने पर साधु उत्सुक और आहारादि के

अन्यान्य विचारों में होता न रहे कर आगे कही गई विधि के अनुसार आहार-पानी की गवेषणा करे।

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गओ मुणी।
चरे मन्दमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥७॥
[दश० अ० ५, उ० १ गा० २]

गाँव में अथवा नगर में गोचरी के लिये गया हुआ मुनि उद्वेगरहित बनकर स्वस्थ चित्त हो धीरे-धीरे चले।

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाई, पाणे य दगमट्टियं ॥८॥
[दश० अ० ५, उ० १ गा० ३]

मुनि अपने सामने की धुरा प्रमाण (चार हाथ जितनी) भूमि को देखता हुआ चले। वह चलते समय बीज, हरी वनस्पति सूक्ष्म जीवजन्तु तथा कीचड़ आदि को छोड़कर चले अर्थात् इन पर पैर न पड़ जाय इसकी पूरी सावधानी रखे।

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥९॥
[दश० अ० ५ उ० १ गा० ८]

वर्षा हो रही हो कुहासा पड़ रहा हो आँधी चल रही हो अथवा पतंगे आदि अनेक प्रकार के जीवजन्तु उड़ रहे हों ऐसी परिस्थिति में साधु अपने स्थान से बाहर न निकले।

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।
हुज्ज वयाण पीला, सामण्णम्मि य संसओ ॥१०॥
[दश अ ५ उ १ गा १]

गोचरी के लिये वेश्याओं के मुहल्ले में जानेवाले साधु को उनका बार-बार संपर्क होता है जिससे महाव्रतों को पीड़ा होती है और समाज उसकी साधुता पर सन्देह करने लगता है।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामन्तं, मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥
[दश० अ ५ उ १ गा० ११]

इसलिये दुर्गति को बढ़ाने में सहायता देनेवाले उपर्युक्त दोषों को समझकर एकान्त मोक्ष की कामना रखनेवाले मुनि वेश्याओं के मुहल्लों में भिक्षा के लिए जाना छोड़ दे।

साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥
[दश० अ ५ उ १ गा० १२]

जहाँ कुत्ता हो तत्काल ब्याही हुई गाय हो, सांड, हाथी अथवा घोड़ा हो या जिस स्थान पर बालक क्रीड़ा करते हों, कलह हो रहा हो युद्ध मच रहा हो वहाँ साधु पुरुषको नहीं जाना चाहिये। बल्कि उसका दूर से ही त्याग करना चाहिये।

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाणि जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥१३॥
[दश अ ५, उ० १ गा १३]

गोचरी के लिये जाता हुआ साधु अपनी नजर को बहुत ऊपर अथवा बहुत नीचे न रखे अभिमान अथवा दीनता धारण न करे, स्वादिष्ट भोजन मिलने से प्रसन्न न होवे अथवा न मिलने से व्याकुल न बने और अपनी इन्द्रियों तथा मन को निग्रह कर उसे सन्तुलित रख सदा विचरण करे।

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥१४॥
[दश० अ० ५ उ० १ गा० १४]

गोचरी के लिये जानेवाला साधु जल्दी-जल्दी न चले, हँसता-हँसता न चले अथवा बात-चीत करता न चले। वह सदा धनवान और निर्धन दोनों प्रकार के कुलों में समान भाव से जाय। —

पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१५॥
[दश० अ० ५, उ० १ गा० १७]

साधु को चाहिए कि वह शास्त्रनिषिद्ध कुल में गोचरी के लिये न जाए, गृह के स्वामी ने इन्कार किया हो तो उस घर में न जाए, तथा प्रीतिरहित गृह में भी प्रवेश न करे। वह अनुराग-भाववाले गृहों में ही प्रवेश करे।

समुयाणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥१६॥
[दश० अ० ५, उ० २, गा० २५]

साधु सदा ही सामुदानिक (धनवान् और निर्धन इन दोनों) के घर में गोचरी करे। यह निर्धन कुल का घर समझकर उसे टालकर धनवान के घर न जाए।

> असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए ।
> उप्फुल्लं न विनिज्झाए, नियट्टिज्ज अयंपिरो ॥१७॥
>
> [दश० अ० ५ उ० १ गा० २१]

गोचरी के लिये गया हुआ साधु घर में रही स्त्री की नजर से नजर मिला कर न देखे, दूर तक लम्बी नजर न डाले आँखें फाड़-फाड़ कर न देखे। यदि भिक्षा न मिले तो बड़बड़ाए बिना ही वापस आ जाए।

> जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
> न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥१८॥
> एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
> विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥१९॥
>
> [दश० अ० १ गा० २-३]

भँवरे जब वृक्षों के फूलों का रस पीते हैं तब फूलों को तनिक भी पीड़ा नहीं पहुँचाते और अपनी आत्मा को तृप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार इस जगत में जो श्रमण की साधना करनेवाले बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से मुक्त साधु हैं वे भ्रमर के समान इस संसार में केवल अपने लिये उपयुक्त ऐसी गृहस्थ द्वारा दी गई सामग्री (वस्त्र पात्रादि) तथा शुद्ध निर्दोष भिक्षा प्राप्त करके सन्तुष्ट रहता है।

महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिण्डरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥२०॥

[दश० अ० १ गा० ५]

भ्रमर के समान मधुकर मुनि अनासक्त तथा हर किसी प्रकार के भोजन में सन्तुष्ट रहने का अभ्यासी होने से अपनी इन्द्रियों पर काबू पाने का आदी होता है और इसीलिए वह साधु कहलाता है।

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणंमि, मायन्ने एसणारए ॥२१॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० २६]

निर्दोष भिक्षा ग्रहण की गवेषणा करने में रत और आहार की मर्यादा को जाननेवाला पण्डित साधु भोजन के प्रति अनासक्ति भाव रखे और दीन भावना को छोड़कर भिक्षावृत्ति करे। ऐसा करते हुए यदि कभी भिक्षा न मिले तो किसी प्रकार का दुःख अनुभव न करे।

समरेसु अगारेसु, संधीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२२॥

[उत्त० अ० १, गा० २६]

लुहार-शाला, सूना घर, दो घरों के बीच की गली और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली नारी के साथ खड़ा न रहे और बातचीत न करे।

नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघिया तं नइक्कमे ॥२३॥

[उत्त० अ० १ गा० ३३]

गृहस्थ के घर से (भोजनालय से) अति दूर नहीं और अति निकट भी नहीं तथा अन्य श्रमणों की नजर पड़े ऐसे भी नहीं इस तरह साधु को भिक्षा के लिए खड़ा रहना चाहिये। वह किसी का भी उल्लंघन कर आगे बढ़े नहीं।

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परिक्कमे ॥२४॥
[दस० अ० ५ उ० १ गा० २४]

गोचरी के लिए गया हुआ साधु, जिस परिवार का जैसा आचार हो वहीं तक परिमित भूमि में गमन करे। नियत सीमा के भीतर गमन नहीं करे।

दगमट्टियआयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदियसमाहिए ॥२५॥
[दस० अ० ५ उ० १ गा० २५]

सब इन्द्रियों को वश में रखनेवाला समाधियोक्त मुनि जहाँ पानी और मिट्टी लाने का मार्ग हो बीज पड़े हों अथवा हरी वनस्पति हो ऐसे स्थान को छोड़कर खड़ा रहे।

पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे, न य रूवेसु मणं करे ॥२६॥
[दस० अ० ८, गा० १९]

साधु पानी अथवा भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके यतनापूर्वक खड़ा रहे, थोड़ा बोले और स्त्रियों के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हो उसका विचार न करे।

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं ।
अकप्पियं न गेण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥२७॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० २७]

वहाँ (गृहस्थ के घर) मर्यादित भूमि में खड़े हुए साधु को गृहस्थ आहार-पानी देवे। यदि कल्पनीय हो तो साधु उसे ग्रहण करे और अकल्पनीय हो तो ग्रहण न करे।

विवेचन—साधु के आचार अनुसार जो वस्तु ग्रहण की जा सके उसे कल्पनीय और न ली जा सके उसे अकल्पनीय कहते हैं।

नाइउच्चे नाइनीए, नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए ॥२८॥
[उत्त० अ० १, गा० ३४]

दाता से ज्यादा ऊपर नहीं, ज्यादा नीचे भी नहीं अथवा ज्यादा पास नहीं और ज्यादा दूर भी नहीं ऐसे खड़े रहकर भिक्षार्थी साधु प्रासुक अर्थात् अचित्त और परकृत अर्थात् दूसरे के निमित्त बना हुआ आहार ग्रहण करे।

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमन्तए ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छन्दं से पडिलेहए ॥ २९ ॥
[दश० अ० ५, उ० १ गा० ३७]

गृहस्थ के घर में यदि दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और उनमें से एक व्यक्ति निमन्त्रण दे तो साधु उसे लेने की इच्छा न करे।

दूसरे का अभिप्राय भी जान ले। तात्पर्य यह है कि दोनों की इच्छा हो तभी उनके पास से आहार-पानी ग्रहण करे।

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयण।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥३०॥
[दश अ ५, उ १ गा ३९]

गर्भवती स्त्री के लिये बनी विविध प्रकार की भोज्य-सामग्री यदि वह खा रही हो तो भिक्षार्थी साधु उसे ग्रहण न करे। उसके खा लेने के पश्चात् यदि अवशिष्ट रहे तो उसे ग्रहण करे।

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥३१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३२॥
[दश अ ५ उ १ गा ४०-४१]

जिसका नौवाँ महीना चल रहा है ऐसी गर्भवती स्त्री कदाचित् खड़ी हो और साधु को आहार-पानी देने के लिये नीचे बैठे अथवा पहले बैठी हुई हो और बाद में उठना पड़े तो वह आहार-पानी साधु के लिये अकल्पनीय बन जाता है। ऐसे प्रसंग पर भिक्षा देनेवाली महिला से साधु यों निषेध करे कि—इस प्रकार की भिक्षा ग्रहण करना मेरे लिये उचित नहीं है।

थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥३३॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२४॥
[दश० अ० ५ उ० १ गा० ४२-४३]

बालक अथवा बालिका को स्तनपान कराती हुई स्त्री यदि उसे ऐसा हुआ छोड़ कर आहार-पानी देवे तो वह साधु के लिये अकल्पनीय है। अतः देनेवाली महिला को साधु इस तरह निषेध व्यक्त करे कि—इस प्रकार का आहार मेरे लिये कल्पनीय नहीं है।

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥२५॥
तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२६॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० ४७-४८]

जो साधु ऐसा जान ले अथवा किसी से सुन ले कि यह अशन पान खादिम और स्वादिम वस्तुएं साधु को दान देने के लिये ही तैयार करवाई गई है, तो उसके लिये वह आहार-पानी अकल्पनीय हो जाता है। अतः उस दाता से साधु को कहना चाहिये कि—इस तरह का आहार-पानी मेरे लिये कल्पनीय नहीं है।

विवेचन—आहार के चार प्रकार हैं :—(१) अशन (२) पान (३) खादिम और (४) स्वादिम। इन में क्षुधा का शमन करें ऐसे पदार्थ जैसे कि भात, कठोल, रोटी मोटी रोटी पूरी बड़े मोदक, सत्तू आदि अशन कहलाते हैं पीने योग्य पदार्थ जैसे कि चावल का

बोल खाद्य, घी का पानी केर का पानी आदि पान कहलाते हैं; सुखकर पदार्थ जैसे कि भुने हुए धान्य पोहे वासम (ग्रास) खाद्य, सूखा मेवा आदि खादिम कहलाते हैं और स्वाद लेने योग्य जैसे कि चूर्ण की गोली हर्रे आदि स्वादिम पदार्थ कहलाते हैं।

न य भोयणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुय न भुंजिज्जा, कीयमुद्देसियाहडं ॥२७॥
[दस अ ८ गा० २३]

साधु भोजन में आसक्त हुए बिना गरीब तथा धनवान् सभी दाताओं के यहाँ भिक्षा के लिये जावे। वहाँ अप्रासुक अर्थात् सचित्त वस्तु, क्रीत अर्थात् साधु के लिये ही खरीद कर लाई गई वस्तु, औद्देशिक अर्थात् साधु का उद्देश रख कर बनवाई गई वस्तु तथा आहृत अर्थात् सामने लायी हुई वस्तु ग्रहण न करे। भूल से ग्रहण कर ली गई हो तो उसका भोग न करे।

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥२८॥
[दस अ० ५ उ २, गा २७]

गृहस्थ के घर में खाद्य और स्वाद्य अनेक प्रकार के पदार्थ होते हैं, परन्तु वह न देवे तो बुद्धिमान् साधु उस पर क्रोध न करे। वह ऐसा विचार करे कि देना या नहीं देना यह उसकी इच्छा की बात है।

निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगं ति वा ।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥२९॥
[दस० अ ८, गा २२]

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२४॥
[दश० अ० ५, उ० १ गा० ४२-४३]

बालक अथवा बालिका को स्तनपान कराती हुई स्त्री यदि उसे रोता हुआ छोड कर आहार-पानी देवे तो वह साधु के लिये अकल्पनीय है। अतः देनेवाली महिला को साधु इस तरह निषेध व्यक्त करे कि—इस प्रकार का आहार मेरे लिये कल्पनीय नहीं है।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥२५॥
तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२६॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० ४७-४८]

जो साधु ऐसा जान ले अथवा किसी से सुन ले कि यह अशन पान खादिम और स्वादिम वस्तुएं साधु को दान देने के लिये ही तैयार करवाई गई है तो उसके लिये वह आहार-पानी अकल्पनीय हो जाता है। अतः उस दाता से साधु को कहना चाहिये कि—इस तरह का आहार-पानी मेरे लिये कल्पनीय नहीं है।

विवेचन—आहार के चार प्रकार है :—(१) अशन (२) पान (३) खादिम और (४) स्वादिम। इन मे क्षुधा का शमन करें ऐसे पदार्थ जैसे कि भात कठोल रोटी मोटी रोटी पूरी बड़े मांड, सत्तू आदि अशन कहलाते है। पीने योग्य पदार्थ जैसे कि चावल का

न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिन्तए इमं ॥४३॥
अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥४४॥
[दश० अ० ५ उ० १ गा० ९१-९२]

पहले अथवा बाद में किये गये दोषों की उस समय यदि पूरी तरह आलोचना न हुई हो तो फिरसे उसका प्रतिक्रमण करे और तब कायोत्सर्ग करके ऐसा चिन्तन करे कि 'अहो ! जिनेश्वर देवों ने मोक्षप्राप्ति के साधनभूत साधु का शरीर धारण करने के लिये कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है ?'

णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवित्ता णं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥४५॥
[दश० अ० ५ उ० १ गा० ९३]

पीछे 'नमो अरिहंताणं' उच्चारणपूर्वक कायोत्सर्ग पालन कर जिनस्तुति करके स्वाध्याय करता हुआ मुनि कुछ समय के लिये विश्राम करे ।

वीसमन्तो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥४६॥
[दश० अ० ५ उ० १ गा० ९४]

विश्राम लेने के पश्चात् निर्जरारूपी लाभ का इच्छुक वह साधु अपने कल्याण के लिये ऐसा चिंतन करे कि 'अन्य मुनिवर मुझ पर

किसी के पूछने पर अथवा पूछे बिना साधु ऐसा कभी न कहे कि अमुक आहार सरस था और अमुक नीरस। यह आहार बहुत अच्छा था और यह बहुत खराब। साधु उसके लाभालाभ की चर्चा भी न करे।

विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥२०॥

[दश० अ० ५, उ० १ गा० ८८]

गोचरी से लौटकर आने के पश्चात् साधु विनयपूर्वक अपने स्थान में प्रवेश करे और गुरु के समक्ष आकर, ईर्यावही का पाठ करके कायोत्सर्ग करे।

आभोइत्ता ण नीसेसं, अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे व संजए ॥२१॥

उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवे ॥२२॥

[दश० अ० ५ उ० १ गा० ८९-९०]

कायोत्सर्ग करते समय साधु आने जाने में तथा आहार-पानी ग्रहण करने में जो कोई अतिचार लगे हों उन सब को वह यथाक्रम याद करे और उनके लिए हृदय से खेद प्रकट करे।

बाद में सरलचित्तवाला और अनुद्विग्न ऐसा साधु अव्याक्षिप्त चित्त से गोचरी कैसे मिली उसका वर्णन गुरु के समक्ष निवेदित करे।

गोचरी में दुर्गन्धयुक्त अथवा सुगन्धवाला अर्थात् अस्वादु या स्वादु जो कुछ आहार मिला हो वह सब साधु उपयोग में ले लेवे। उसमे से कुछ भी नही छोडे। पात्र को जो कुछ भी आहार लिपटा हुआ हो उसके भी अन्तिम कण को अंगुली से चाट जावे।

सुकडे त्ति सुपक्क त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।

सुणिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥५०॥

[उत्त० अ० १ गा० ३६]

यह ठीक बना है यह अच्छी तरह पकाया है यह अच्छी तरह काटा है इसकी कडुवाहट ठीक तरह से दूर हुई है यह अच्छे मसालों से बना हुआ है यह बहुत सुन्दर है आदि वचन सावद्य होने से मुनि इनका प्रयोग न करे।

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं व।

एयलद्धमन्नट्ठपउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥५१॥

[दश० अ० ५ उ० १ गा० ९७]

गृहस्थ द्वारा अपने लिये बनाया तथा शास्त्रोय विधि से प्राप्त आहार कडुवा तीता कसैला खट्टा मीठा अथवा खारा चाहे जैसा हो तो भी साधु उसे मधु अथवा घृत जैसा मीठा मान कर उपयोग मे लेवे।

विवेचन—संस्कृत-प्राकृत मे तिक्त का अर्थ कडवा और कटु का अर्थ तीखा ऐसा होता है।

अरसं विरसं वा वि, सूइयं वा असूइयं।

उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोयणं ॥५२॥

अनुग्रह करके मेरे इस आहार मे से थोड़ा भी ग्रहण करे तो मै संसार समुद्र पार पा जाऊँ।'

साहवो तो चियत्तेणं, निमंतिज्जा जहक्कमं ।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥४७॥
[दश० अ० ५, उ० १ गा० ९५]

इस प्रकार विचार कर मुनि सर्व साधुओं को प्रीतिपूर्वक निमन्त्रित करे और उनमे से जो भी साधु उनके साथ आहार करना चाहे तो उसके साथ आहार करे।

विवेचन—इसका क्रम ऐसा है कि प्रथम दीक्षावृद्ध को आमन्त्रित करे, बाद मे उन से उतरते हुए क्रमवाले साधुओं को आमन्त्रित करे, बाद मे उनसे उतरते हुए क्रमवालों को आमन्त्रित करे। इस प्रकार सभी को आमन्त्रित करे।

अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥४८॥
[दश० अ० ५, उ० १ गा० ९६]

यदि आमन्त्रण देने के बाद कोई साधु आहार का इच्छुक न हो तो उक्त साधु अकेला ही चौड़े मुखवाले प्रकाशयुक्त पात्र मे, वस्तु नीचे न गिरे ऐसी पद्धति से यतनापूर्वक आहार करे।

पडिग्गहं संलिहित्ता णं लेवमायाए संजए ।
दुगन्धं वा सुगन्धं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥४९॥
[दश० अ० ५ उ० २, गा० १]

धारा २०

भिक्षु की पहचान

निक्खम्ममाणाइ य बुद्धवयणे,
निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ।
इत्थीण वसं न आवि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥१॥

जिसने ज्ञानियों के वचन सुनकर गृहस्थाश्रम का त्याग किया हो जो नित्य अपने चित्त को समाहित—शान्त रखता हो, जो स्त्रियों के मोहजाल में नहीं फँसता हो तथा वमन किये हुए भोगों को भोगने की इच्छा नहीं रखता हो उसको ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

विवेचन—भिक्षु, साधु यति संयति मुनि अणगार, ऋषि आदि एकार्थ शब्द हैं ।

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पिआवए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥२॥

उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जियं ॥१३॥

[दश० अ० ५, उ० १ गा० ९९]

शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त आहार रसरहित हो अथवा विरस हो अथवा व्यंजनादि-युक्त हो अथवा व्यंजनादि-रहित हो आर्द्र हो या शुष्क हो सत्तू हो या उड़द के बाकले हों अथवा सरस आहार थोड़ा हो और नीरस आहार ज्यादा हो, इस प्रकार जैसा भी आहार प्राप्त हुआ हो उसकी साधु निन्दा न करे। वह निस्पृह भाव से केवल संयमयात्रा के निर्वाह के लिये दाता द्वारा निःस्वार्थ भाव से दिये गये दोषवर्जित आहार का भोजन करे।

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥१४॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १७]

साधु जिह्वा का लोलुप न बने रस में आसक्त न बने जिह्वा को वश में रखे और मूर्च्छारहित बने। वह स्वाद के लिये भोजन न करे, केवल संयम निर्वाह के लिये भोजन करे।

रोइअ नायपुत्तवयणे, अप्पसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥५॥

जिसे ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के वचन प्रिय लगते हों और उनके अनुसार जो छकाय के जीवों को आत्मतुल्य मानता हो जिसने पाँच महाव्रतों का स्पर्श किया हो और जिसने पाँच आस्रव-द्वारों (इन्द्रियों) का संवर किया हो उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥६॥

जो क्रोधादि चार कषायों को छोड़े जो ज्ञानियों के वचन में अचल—अटल विश्वासवान् हो जो पशुओं तथा सुवर्ण-रौप्य आदि संपत्ति से रहित हो, जो मूर्च्छावश गृहस्थ के सम्बन्ध को न करता हो उसे सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं,
मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥७॥

जो स्वयं पृथ्वी को न खोदे तथा दूसरे से न खुदवाये सचित्त पानी न पिये और न पिलाये तीक्ष्ण शस्त्रसम अग्नि को स्वयं न जलाये और न दूसरे से जलवाये उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

विवेचन—सच्चा भिक्षु इनमें से किसी क्रिया का अनुमोदन भी न करे।

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीआणि सया विवज्जयंतो,
सचित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥३॥

जो पंखे आदि साधनों से स्वयं हवा न करे तथा दूसरे के द्वारा न करावे, जो वनस्पति को स्वयं न तोड़े और न दूसरे से तोड़वाये, जो मार्ग में पड़े बीजों को दूर किया ही चले और सचित्त का भक्षण न करे, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

वहणं तसथावराण होइ, पुढवीतणकट्ठनिस्सियाण।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे, नो वि पए न पयावए
जे स भिक्खू ॥४॥

पृथ्वी तृण और काठ के सहारे रहनेवाले स्थावर तथा त्रस जीवों की हिंसा होती है। अतः जो अपने लिये तैयार की हुई भिक्षा न ले, स्वयं रसोई न बनाये तथा दूसरे से न बनवाये, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,

न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते ।

संजमधुवजोगजुत्ते,

उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥१०॥

जो लड़ाई-झगड़े खड़े हो जाय ऐसी कथा-कहानी नहीं सुनाता हो जो किसी पर क्रोध नहीं करता हो जो पाँचों इन्द्रियों को संयम में रखता हो जो रागादि से रहित हो जो मन वचन और शरीर को निश्चित संयम में रखनेवाला हो जो उपशान्त अर्थात् कायचापल्य रहित हो और जो किसी का अनादर नहीं करता हो उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

जो सहइ हु गामकंटए,

अक्कोसपहारतज्जणाओ य ।

भयभेरवसद्दसप्पहासे,

समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू ॥११॥

[दश० अ० १ गा० १ से ११]

जो इन्द्रिय-समूह को प्रिय न लगनेवाले प्रसंग किसी के द्वारा किया गया क्रोध दण्डादि का प्रहार, अपमान (वैताल आदि के द्वारा किये गये) भयङ्कर शब्द और अट्टहास को शान्त भाव से सहन करनेवाला हो तथा सुख-दुःख में समवृत्ति रखता हो उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

जो सम्यग्दर्शी हो, जो सदा विवेकपूर्वक (विचारशील) हो, जो ज्ञान, तप और संयम में निष्ठावान् हो, जो तप करके अपने पुराने पापों का नाश करनेवाला हो और मन, वचन तथा काया को संयम में रखता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा,
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥८॥

इसी तरह जो विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम पदार्थों का कल या परसों-तरसों तथा आगामी दिनों के लिये संचय करके नहीं रखता हो और दूसरे से संचित करके नहीं रखवाता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे,
भुच्चा सज्झायरए य जे स भिक्खू ॥९॥

इसी प्रकार जो विविध तरह के अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों को प्राप्त करके अपने साधर्मिकजनों—साथी संगी साधुओं को निमन्त्रित कर उनके साथ बैठ कर भोजन करता हो और भोजन के पश्चात् स्वाध्याय में मग्न रहता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजइन्दिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणई
जे स भिक्खू ॥१५॥
[दश० अ १० गा १५]

जो हाथ पाँव वाणी और इन्द्रियों को संयम में रखनेवाला हो जो अध्यात्मभाव में तत्पर हो जिसकी आत्मा सुसमाहित हो और जो सूत्र के अर्थ को बराबर जानता हो उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥१६॥
[दश० अ १० गा १६]

जो उपधि अर्थात् संयम के उपकरणों में निर्मोही हो खान-पान में आसक्त न हो जो अपरिचित कुटुम्बों से पहुँचकर निर्दोष भिक्षा लेता हो जो संयम को बिगाड़नेवाले दोषों से दूर भागता हो जो वस्तु का क्रय-विक्रय अथवा संचय न करता हो जो विरक्त हो और जो राग बढ़ानेवाले समस्त सम्बन्धों से दूर रहता हो उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

अलोलभिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीवियनाभिकंखे।

असइं वोसट्ठचत्तदेहे,
अक्कुट्ठे व हए लूसिए वा।
पुढवीसमे मुणी हविज्जा,
अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥१२॥
[दश० अ १० गा ११]

जो सदा देहमावना से रहित हो जो आक्रोश करने पर भी मार-पीट होने पर भी अथवा घायल हो जाने पर भी पृथ्वी के समान क्षमाशील हो जो नियाणा न करता हो अथवा नृत्य-गीतादि में उत्सुकता नहीं दिखलाता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

विवेचन—संयम और तप के फल स्वरूप किसी भी प्रकार के सांसारिक सुख की अपेक्षा रखना इसको नियाणा (निदान) कहते हैं।

अभिभूय काएण परीसहाई,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥१३॥
[दश० अ १० गा १४]

जो शरीर से (क्षुधा आदि) परीषहों को जीते जो संसार से अपनी आत्मा का उद्धार करे जो जन्म और मरण को महाभय का कारण मानकर तप में तथा श्रमणधर्म में मग्न रहे, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

इस लोक में उसको ही प्रतिबुद्धजीवी—सदा जागृत रहनेवाला
ा जाता है—जो सयमी जीवन व्यतीत करता है।

गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥४॥

[उत्त० अ ५ गा २]

सर्व गृहस्थों की अपेक्षा साधु संयम में श्रेष्ठ होते हैं। तात्पर्य
कि गृहस्थ चाहे जितने व्रत और नियमों का पालन करते हों
संयम के विषय में वे साधु की समानता नहीं कर सकते।

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए ॥५॥

[उत्त० अ० ३५, गा ३]

यमी पुरुष सदा हिंसा मृषा चोरी अब्रह्मसेवन, भोगलिप्सा
लोभ का परित्याग करे।

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥६॥

[सू० श्रु १ अ ८, गा १]

ारभोगों के प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु यत्नपूर्वक संयम
करे, धर्मचर्या में अप्रमादी बने और विपत्ति आ जाने पर
ा से उसे सहन करे।

ुणओजपट्ठिए बहुजणम्मि,
पडिसायत्तदुलक्खेण।

इड्ढिं च सक्कारणपूयणं च,

चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥१६॥

[दश० अ० १० गा० १७]

जो अलोलुप हो, किसी प्रकार के रसों में आसक्त न हो, शरीर-निर्वाह के लिए भिक्षा ग्रहण करता हो, जो जीवितव्य के प्रति मोह न रखता हो, जो अपने यश, सत्कार और पूजा का त्याग करनेवाला हो, जिसकी आत्मा स्थिर हो और मायाचाररहित हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिए।

न परं वएज्जासि अयं कुसीले,

जेणं च कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।

जाणिय पत्तेयं पुण्ण-पावं,

अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१७॥

[दश० अ० १० गा० १८]

'यह कुशील है' ऐसा शब्द दूसरों को न कहता हो, सामनेवाला व्यक्ति क्रुद्ध होवे ऐसे वचन न बोलता हो, जो प्रत्येक आत्मा स्वयं-कृत पाप अथवा पुण्य के फल भोगती है, ऐसा जानता हो और जो अपने गुणों की बड़ाई न करता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,

न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।

नारीसु नो पगिज्झेज्जा,
इत्थी विप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं णच्चा,
तत्थ ठविज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥२४॥
[उत्त० अ० ८, गा० १९]

अणगार स्त्रियों के प्रति आसक्त न बने और उनका सम्पर्क—समागम छोड़े। भिक्षु धर्म को सुन्दर मानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थिर रखे।

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥२५॥
[उत्त० अ० ६ गा० १६]

सर्व बन्धनों से मुक्त होकर एकत्वभाव में रहनेवाले गृहरहित, भिक्षाचरी करनेवाले मुनि निश्चय ही बहु सुखी होता है।

तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्चहियट्ठिअप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥२६॥
[दश० अ० १ गा० २१]

आत्मा के हित साधन में तत्पर साधु इस अशुचिमय और अशाश्वत शरीर का सदा के लिये परित्याग कर देता है तथा जन्म-मरण के बन्धनों को काट कर, 'जहाँ जाने के बाद फिर संसार में आना नहीं होता' ऐसे मुक्ति स्थान को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुएँ देखता है परन्तु सुनी हुई अथवा देखी हुई सभी बातें वह किसी दूसरे को कहे यह उचित नहीं है।

अक्कोसेज्ज परो भिक्खु, न तेसिं पडिसंजले ॥२१॥
[उत्त० अ० २ गा० २४]

कोई तिरस्कार करे तो भिक्षु उसपर क्रोध न करे।

पवुत्तपुत्तदारस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥२२॥
[उत्त० अ० ९ गा० १५]

पुत्र-पत्नी को छोड़नेवाले तथा सांसारिक व्यवहार से दूर ऐसे भिक्षु के लिये कोई वस्तु प्रिय नहीं होती और कोई अप्रिय भी नहीं होती।

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी,
खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो,
चरेज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए ॥२३॥
[उत्त० अ० २१ गा० १३]

भिक्षु को चाहिये कि वह सर्व प्राणियों के प्रति दयानुकम्पी रहे, कठोर वचनों को सहन करनेवाला बने, संयमी रहे, ब्रह्मचारी रहे, इन्द्रियों को सुसमाधिवाला बने और सर्व पापकारी प्रवृत्ति का वर्जन करता हुआ विचरण करे।

इस लोक मे उसको ही प्रतिबुद्धजीवी—सदा जागृत रहनेवाला कहा जाता है—जो संयमी जीवन व्यतीत करता है।

गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥४॥

[उत्त० अ० ५ गा० २]

सर्व गृहस्थों की अपेक्षा साधु संयम में श्रेष्ठ होते हैं। तात्पर्य यह कि गृहस्थ चाहे जितने व्रत और नियमों का पालन करते हों किन्तु संयम के विषय में वे साधु की समानता नहीं कर सकते।

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए ॥५॥

[उत्त० अ० ३५, गा० ३]

संयमी पुरुष सदा हिंसा झूठ, चोरी अब्रह्मसेवन भोगलिप्सा तथा लोभ का परित्याग करे।

मणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥६॥

[सू० श्रु० १ अ० ८ गा० १]

उदारभोगों के प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु यत्नपूर्वक संयम मे रमण करे, धर्मचर्या मे अप्रमादी बने और विपत्ति आ जाने पर अदीन भाव से उसे सहन करे।

अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि,
पडिसोयलद्धलक्खेणं।

पडिसोअमेव अप्पा,
दायव्वो होउ कामेण ॥७॥
[दश चू० २, गा० २]

जगत में बहुत से लोग अनुस्रोतगामी अर्थात् विषय के प्रवाह में बहनेवाले होते हैं। किन्तु जिसका लक्ष्य किनारे पहुँचने का है वह प्रतिस्रोतगामी अर्थात् विषय-प्रवाह के सामने जानेवाला होता है। जो संसारसागर को पार करना चाहता है उसे अपनी आत्मा को निःसन्देह प्रतिस्रोत में विषय-पराङ्मुखता में ही स्थिर करनी चाहिए।

अणुसोअसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥८॥
[दश चू० २ गा० ३]

सामान्य मनुष्य विषय के प्रवाह में बहनेवाले तथा उसीमें सुख माननेवाले होते हैं, जबकि साधु पुरुषों का लक्ष्य तो प्रतिस्रोत ही होना है। इतना समझ लो कि अनुस्रोत यह संसार है और प्रतिस्रोत उससे बाहर निकलने का उपाय है।

सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं
इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥९॥
[उत्त० अ० १२, गा० ४२]

जो पाँच महाव्रतों से हिंसादि आरम्भ के रोधक हैं, जो ऐहिक जीवन की आकांक्षा नहीं करते, जो काया की ममता छोड़ चुके हैं और जो देह की सार-सम्भार वृत्ति से पर हैं, वे ही महाविजय के लिए श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।

कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणा ॥१०॥

[उत्त० अ १९ गा ३३]

मुनि जीवन कापोतवृत्ति के समान है, केशलोच अत्यन्त दारुण है और उग्र ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना कठिन है, परन्तु महात्माओं को ये गुण धारण करने चाहिये।

विवेचन—कापोतवृत्ति का अर्थ है कबूतर के समान जो मिले उस पर जीवन चलाना।

वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥११॥

[उत्त० अ १९ गा ३८]

संयम रेती के कौर की तरह नीरस है और तपश्चर्या तलवार की धार पर चलने की तरह दुष्कर है।

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करा।
तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥१२॥

[उत्त० अ १९, गा ३९]

जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा का पान करना अति दुष्कर है वैसे ही तरुणावस्था में श्रमणत्व का पालन करना अति दुष्कर है।

जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो ।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेण समणत्तणं ॥१३॥
[उत्त० अ० १९, गा ४]

जिस तरह कपड़े के थैले को वायु से भरना कठिन है उसी तरह कायर (पुरुष) के लिये श्रमणत्व का—संयम का पालन करना कठिन है।

जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो ।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो ॥१४॥
[उत्त० अ० १९, गा० ४२]

जैसे भुजाओं से समुद्र को तैर कर पार करना अति कठिन है वैसे ही अनुपशान्त आत्मा द्वारा संयमरूपी समुद्र को पार करना अति कठिन है।

इह लोए निप्पिवासस्स,
नत्थि किंचि वि दुक्करं ॥१५॥
[उत्त० अ० १९, गा० ४४]

इस लोक में जो तृष्णारहित है उसके लिये कुछ भी कठिन नहीं है।

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा ।
पाणे न हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१६॥
[सू० श्रु० १ अ० २, उ० १ गा० १२]

जो संसार से विरक्त हैं जो आत्मशुद्धि के लिये तत्पर हैं जो क्रोध लोभ आदि दुष्ट मानसिक वृत्तियों को दूर करनेवाले हैं वे प्राणियों की हिंसा कभी नहीं करते। जो पापों से निवृत्त हो गये हैं और जो शान्ति को धारण करते हैं वे ही सच्चे वीर हैं।

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥१७॥
[दश चू० १ गा० १]

जब कोई अनार्य पुरुष केवल भोग की इच्छा से अपने चिरसञ्चित संयमधर्म को छोड़ देता है तब वह भोगासक्त अज्ञानी अपने भविष्य का जरा भी विचार नहीं करता।

जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ॥१८॥
[दश चू० १ गा० ४]

मनुष्य जब संयमी होता है तब पूज्य बनता है परन्तु संयम से भ्रष्ट होता है तो अपूज्य बन जाता है।

स मयं सव्वसाहूणं, त मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ॥१९॥
[सू० श्रु० १ अ० १५ गा० २४]

सर्वसाधुओं द्वारा मान्य ऐसा जो संयमधर्म है वह पाप का नाश करनेवाला है। इसी संयम धर्म की आराधना कर अनेक जीव संसारसागर से पार हुए हैं और अनेक जीवों ने देवयोनि प्राप्त की है।

तिविहेण वि पाण मा हणे
आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे य अणागयावरे ॥२०॥
[सू० श्रु० १ अ० २, उ० ३ गा० २१]

आत्मकल्याण के लिये मन वचन और काया से किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना, संयमपालन के फलस्वरूप किसी सांसारिक सुख की इच्छा नहीं रखना और तीन गुप्तियों का पालन करना। इस प्रकार अनन्त आत्माएँ सिद्धि-पद को प्राप्त हुई हैं वर्तमान काल मे सिद्ध हो रही हैं और भविष्य में भी होंगी।

तपश्चर्या

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥१॥

[दस० अ० ८, गा० ३५]

इन्द्रियों की शक्ति, श्रद्धा और आरोग्य देखकर तथा क्षेत्र और काल को पहचानकर अपनी आत्मा को शारीरिक बल धर्म कार्य में नियुक्त करे।

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं ॥२॥

[आ० श्रु० १ अ० ४ उ० ३]

साधु आत्मा को अकेला समझकर (अमोहभाव से) शरीर को उग्र तप द्वारा क्षीण करे।

सउणी जह पंसुगुण्डिया,
विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं,
कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥३॥

[सू० श्रु० १ अ० २, उ० १, गा० १५]

जैसे शकुनिका नामक एक पक्षी अपने शरीर में लगी हुई धूल को पंख फड़फड़ा कर दूर कर देती है वैसे ही जितेन्द्रिय ऐसा अहिंसक तपस्वी अनशनादि तप करके अपने आत्म-प्रदेशों पर कर्म रूपी लगी हुई मिट्टी को दूर कर देता है।

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अन्तराखिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पण्डिए ॥४॥

[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० १५]

यदि पण्डित पुरुष किसी भी तरह अपनी आयु का क्षयकाल जान ले तो उस से पूर्व वह शीघ्र ही संलेखनारूप शिक्षा को ग्रहण करे।

खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥५॥

[उत्त० अ० १८, गा० ११]

महर्षिगण संयम और तप द्वारा अपने सभी पूर्व कर्मों को क्षीण करके सर्व दुःखों से रहित ऐसा जो मोक्षपद है उसे पाने के लिए प्रयत्न करते हैं।

तवनारायजुत्तेण, भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥६॥

[उत्त० अ० ९, गा० २२]

तपरूपी बाण से संयुक्त मुनि कर्मरूपी कवच को भेदकर कर्म के साथ होनेवाले युद्ध का अन्त करता है और भव-परम्परा से मुक्त होता है।

एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥७॥

[उत्त० अ० ३० गा० ३७]

जो पण्डित मुनि बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दोनों प्रकार के तपों का सम्यग् आचरण करता है, वह समस्त संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

धारा ३१

विनय (गुरु-सेवा)

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ॥१॥

एवं धम्मस्स विणओ,
मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं,
निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

[दश० अ० ९ उ० २ गा० १-२]

वृक्ष के मूल से तना निकलता है। तने में से विविध शाखाएँ निकलती हैं। उन शाखाओं से अन्य कई छोटी-छोटी प्रशाखाएँ (टहनियाँ) फूटती हैं। उन प्रशाखाओं पर पत्ते लगते हैं फिर पुष्प खिलते हैं फल लगते हैं और उसके पश्चात् फलों में रस होता है।

इसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम परिणाम मोक्ष है। विनय से ही मनुष्य कीर्ति श्रुतज्ञान और महापुरुषों की प्रशंसा आदि पूर्ण रूप से प्राप्त करता है।

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसार न विणस्सइ ॥३॥
[उत्त अ २९ गा ५९]

जैसे धागा (सूत्र) पिरोई हुई सुई के गिर जाने पर भी वह खो नहीं जाती ठीक वैसे ही (विनय-पूर्वक) श्रुतज्ञान की प्राप्ति करने वाला जीव चार गतिरूपी संसार मे परिभ्रमण नहीं करता।

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ॥४॥
[सू श्रु० १ अ ९ गा ३३]

मोक्षार्थी पुरुष को चाहिये कि वह प्रज्ञावान् और तपस्वी ऐसे गुरु की सेवा-सुश्रूषापूर्वक उपासना करे।

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥५॥
[दश अ ९ उ १ गा ११]

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण भिन्न भिन्न प्रकार के (घृत, मधु आदि) पदार्थों की आहुति से तथा वेदमन्त्रों द्वारा अभिषिक्त ऐसी

को नमस्कार करता है वैसे ही शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाने पर भी अपने आचार्य की (गुरु की) विनयपूर्वक सेवा करे।

अस्सन्तिए धम्मपयाइ सिक्खे,
सस्सन्तिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
कायग्गिरा भो ! मणसा य निच्चं ॥६॥

[दस० अ० ९, उ० १ गा० १२]

शिष्य का यह परम कर्तव्य है कि जिस गुरु के पास उसने धर्म-पदों की शिक्षा ग्रहण की हो अर्थात् धर्मज्ञान प्राप्त किया हो उसका यथोचित मन से आदर करे, (वचन से सत्कार करे) और काया से दोनों हाथ जोड़कर सिर से प्रणाम करे। इस प्रकार सदा मन वचन और काया से उनके प्रति विनय प्रदर्शित करे।

थम्भा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥७॥

[दस० अ० ९, उ० १, गा० १]

जो शिष्य अभिमानवश, क्रोधवश, मद या प्रमादवश गुरु के पास रहकर भी विनय नहीं सीखता, अर्थात् उनके प्रति विनय से व्यवहार नहीं करता, उसका यह अविनयी वर्तन बाँस के फल की तरह ... का कारण बनता है।

विवेचन—बाँस के फल आते हैं तब बाँस फट जाता है। इसी प्रकार जो शिष्य गुरु के साथ अविनय से व्यवहार करता है उसका सर्वप्रकार से अधःपतन होता है।

विणयं पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं, दण्डेण पडिसेहए ॥८॥

[दश० अ० ९ उ० २, गा० ४]

कोई उपकारी महापुरुष सुन्दर शिक्षा देकर विनय-मार्ग पर चलने की प्रेरणा करे, तब जो मनुष्य उस पर क्रोध करता है (और उसके द्वारा प्राप्त शिक्षा का अनादर करता है) वह स्वयं अपने घर आयी दिव्य लक्ष्मी को डण्डा लगाकर हाँक देता है—भगा देता है।

जे आयरियउवज्झायाणं,
सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति,
जलसित्ता इव पायवा ॥९॥

[दश० अ० ९ उ० २, गा० १२]

जो शिष्य आचार्य और उपाध्याय की सेवा करता है तथा उनके वचनानुसार चलता है अर्थात् उनकी आज्ञा का सदा पालन करता है उसकी शिक्षा खूब अच्छी तरह जल से सिंचित वृक्ष के समान सुन्दर बढ़ती जाती है।

विवेचन—शिक्षा दो प्रकार की है:—(१) ग्रहण और (२) आसेवना। शास्त्रज्ञान सम्पादन करने को ग्रहण-शिक्षा कहते

है और शत्रु के आचार के अनुरूप कार्य-व्यवहार क
को आसेवना-शिक्षा कहते हैं। जहाँ शिक्षा का स
किया गया हो वहाँ इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं
चाहिये।

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वु

[उत्त० अ० १

जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला
निकट रहता हो (गुरुकुलवासी हो) और गुरु के
आकार से मनोभाव को समझकर कार्य करनेवाला हो
कहलाता है।

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकु
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाए
हिरिम पडिसंलीणे, सुविणीए

[उत्त० अ० ११

निम्नलिखित पन्द्रह स्थानों में वर्तन करता हुआ साधु सुविनीत कहलाता है :—

(१) वह नम्रवृत्तिवाला हो (२) चपलता-रहित हो (३) छलता-रहित हो (४) कुतूहल-रहित हो (५) किसी का अपमान करने वाला न हो (६) जिसका क्रोध अधिक समय तक न टिकता हो, (७) जो मित्रता निभानेवाला हो (८) जो विद्या प्राप्त कर अभिमान करनेवाला न हो (९) अपने से त्रुटि हो जाने पर हितशिक्षा देनेवाले आचार्यादि का तिरस्कार करनेवाला न हो (१) मित्रों के प्रति क्रोध करनेवाला न हो, (११) अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे प्रशंसा करता हो (१२) ममता-ईर्ष्या अथवा किसी प्रकार का कलह करनेवाला न हो (१३) बुद्धिमान् हो (१४) कुलीन हो और (१५) आँख की शर्म रखनेवाला तथा स्थिर-वृत्तिवाला हो।

आणानिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चई ॥१५॥
[उत्त० अ० १ गा० ३]

जो शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करनेवाला न हो गुरु के निकट रहनेवाला न हो (गुरुकुलवासी न हो), गुरु के मनोभाव के प्रतिकूल वर्तन करनेवाला हो तथा तत्त्वज्ञान से रहित हो वह अविनीत कहलाता है।

अह चउदसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥१६॥

अभिक्खणं कोही हवइ, पबन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥१७॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१८॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥१९॥
[उत्त० अ० ११ गा० ६ से ९]

यहाँ वर्णित चौदह स्थानों में वर्तन करनेवाला साधु अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता —(१) जो शिष्य बार-बार क्रोध करता हो (२) जिसका क्रोध शीघ्रता से शान्त न होता हो (३) जो मैत्री भावना को छोड़नेवाला हो (४) विद्या प्राप्त करके अभिमान करनेवाला हो (५) किसी प्रकार की त्रुटि हो जाने पर हितशिक्षक आचार्यादि का तिरस्कार करनेवाला हो (६) मित्रों पर भी क्रोध करनेवाला हो (७) अत्यन्त प्रिय मित्र की भी पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो (८) असम्बद्ध प्रलापकारी हो (९) द्रोही हो (१०) अभिमानी हो (११) रसादि में आसक्त हो (१२) इन्द्रियों को वश में नहीं रखनेवाला हो (१३) असंविभागी हो अर्थात् साधर्मिकों को आमन्त्रित किये बिना ही खान-पान को अकेला ही भोगनेवाला हो और (१४) अप्रीतिकारक हो।

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥२०॥
[दश० अ० ९ उ० २, गा० २१]

अविनयी के ज्ञानादिगुण नष्ट हो जाते हैं और विनयी को ज्ञानादिगुणों की सम्प्राप्ति होती है। इन दो बातों को जिसने बराबर जान लिया है वही सच्ची शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥२१॥
[उत्त० अ० ११ गा० ३]

(१) अभिमान (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) रोग और (५) आलस्य इन पाँच कारणों से शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती।

अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीलि त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥२२॥
नासीले न विसीले वि, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥२३॥
[उत्त० अ० ११ गा० ४-५]

निम्नाङ्कित आठ कारणों से साधु शिक्षाशील कहलाता है :—
(१) बहु बार-बार हँसनेवाला न हो (२) निरन्तर इन्द्रियों को वश मे रखनेवाला हो (३) दूसरों के मर्म को कहनेवाला न हो (४) शीलरहित न हो (५) शील को पुनः पुनः अतिचार लगानेवाला न हो (६) खाने-पीने मे लोलुप न हो (७) शान्तवृत्तिवाला हो और (८) सत्यपरायण हो।

मणोगयं वक्कगयं, जाणित्तायरियस्स उ ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥२४॥
[उत्त० अ० १ गा० ४३]

विनीत शिष्य आचार्य के मनोगत-भावों को जानकर अथवा उनके वचन सुनकर उनके वचनों द्वारा उनको स्वीकृत करे और कार्य द्वारा उसका आचरण करे।

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥२५॥
[उत्त० अ० १ गा० ४४]

विनीत शिष्य गुरु द्वारा प्रेरणा किये बिना भी कार्य में सदा प्रवृत्त रहता है और गुरु द्वारा व्यवस्थित रूप से प्रेरित किया गया हो तो वह कार्य शीघ्र सम्पादित करता है। अधिक क्या? गुरु के उपदेशानुसार वह सभी कार्य उत्तम प्रकार से करता है।

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए ॥२६॥
[दश० अ० ८, गा० ३०]

विनीत शिष्य किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार न करे और न आत्म-प्रशंसा ही करे। इस तरह वह शास्त्रज्ञान जाति तप अथवा बुद्धि का अभिमान भी न करे।

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिन्तिय वियागरे ॥२७॥
[सू० श्रु० १ अ० ९, गा० २५]

वह (विनीत शिष्य) दूसरे जब बोलते हों तब बीच में न बोले,

मर्मभेदी (दिल को बुरी लगे ऐसी) बात न करे, मायावी वचनों का त्याग करे और जो बोले वह खूब सोच-समझ कर विचार पूर्वक बोले।

निसन्ते सिया अमुहरी, बुद्धाणमन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥२८॥
[उत्त अ १ गा ८]

वह सदा शान्त रहे, असम्बद्ध बात न करे ज्ञानियों के निकट रहकर सदा अर्थयुक्त परमार्थसाधक बातों को ग्रहण करे और निरर्थक बातों को छोड़ दे।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा खंतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥२९॥
[उत्त० अ १ गा ९]

गुरु के अनुशासन करने पर क्रोध न करे अपितु क्षमावान् बना रहे और दुराचारियों की संगति हास्य तथा क्रीड़ा का वर्जन करे।

मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाइज्ज एगगो ॥३०॥
[उत्त अ १, गा १]

वह क्रोधादि के वशीभूत हो असत्य न बोले, साथ ही अधिक भी न बोले किन्तु कालानुसार शास्त्रों का अध्ययन करे और एकाग्र होकर उन पर चिन्तन-मनन किया करे।

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥३१॥
[उत्त अ १ गा १२]

विनीत शिष्य आचार्य के मनोगत-भावों को जानकर अथवा उनके वचन सुनकर अपने वचनों द्वारा उनको स्वीकृत करे और कार्य द्वारा उसका आचरण करे।

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥२५॥

[उत्त० अ० १ गा० ४४]

विनीत शिष्य गुरु द्वारा प्रेरणा किये बिना भी कार्य में सदा प्रवृत्त रहता है और गुरु द्वारा व्यवस्थित रूप से प्रेरित किया गया हो तो वह कार्य शीघ्र सम्पादित करता है। अधिक क्या? गुरु के उपदेशानुसार वह सभी कार्य उत्तम प्रकार से करता है।

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए ॥२६॥

[दश० अ० ८, गा० ३०]

विनीत शिष्य किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार न करे और न आत्म-प्रशंसा ही करे। इस तरह वह शास्त्रज्ञान, जाति, तप अथवा बुद्धि का अभिमान भी न करे।

भासमाणस्स न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिन्तिय वियागरे ॥२७॥

[सू० श्रु० १ अ० ९ गा० २५]

वह (विनीत शिष्य) दूसरे जब बोलते हों तब बीच में न बोले

जैसे अड़ियल घोड़ा बार-बार चाबुक की अपेक्षा रखता है, वैसे ही विनीत शिष्य बार-बार अनुशासन की अपेक्षा न रखे। जिस तरह सीधा घोड़ा चाबुक को देखते ही कुमार्ग को छोड़ देता है वैसे ही विनीत शिष्य भी गुरुजनों की दृष्टि आदि का संकेत पाकर दुष्ट मार्ग को छोड़ दे।

ना पुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ॥१२॥
[उत्त० अ० १ गा० १४]

विनीत शिष्य बिना पूछे कुछ भी न बोले और पूछे जाने पर असत्य न बोले। वह क्रोध को निष्फल बना दे और प्रिय-अप्रिय को समभाव से ग्रहण करे।

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥१३॥
[उत्त० अ० १ गा० १]

विनीत शिष्य आचार्य की पंक्ति में न बैठे, उनसे आगे भी न बैठे, उनके पीठ पीछे भी न बैठे और वह इतना निकट भी न बैठे कि उनकी जाँघ से जाँघ मिल जाय। यदि गुरु ने किसी कार्य का आदेश दिया हो तो वह शय्या पर सोते-सोते अथवा बैठे-बैठे न सुने। तात्पर्य यह कि खड़ा होकर तथा उनके पास जा कर विनय-पूर्वक सुने।

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीणगुत्तो निसीए सगासे गुरुणो मुणी ॥२४॥
[दश अ ८, गा ४५]

जितेन्द्रिय मुनि गुरु के समक्ष हाथ, पैर और शरीर को यथा व्यवस्थित रखकर तथा अपनी चपल इन्द्रियों को वश में रखकर (बहुत दूर भी नहीं और पास भी नहीं इस प्रकार) बैठे ।

नीयं सिज्जं गइं ठाणं नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वन्दिज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥२५॥
[दश अ ९ उ २ गा १७]

विनीत शिष्य अपनी शय्या अपनी गति अथवा स्थान और अपना आसन गुरु से नीचा रखे या नीचा झुककर गुरु के चरणों की वन्दना करे और कार्य उपस्थित होने पर नीचे झुककर ही अंजलि करे ।

आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥२६॥
[उत्त अ १ गा ३०]

शिष्य ऐसे आसन पर बैठे जो गुरु से ऊँचा न हो आवाज करनेवाला न हो और स्थिर हो । ऐसे आसन पर बैठने के पश्चात् वह बिना प्रयोजन उठे नहीं और यदि प्रयोजन हो तो भी बार-बार उठे नहीं । वह कोई हाथ अथवा पैरों से किसी प्रकार की चेष्टा किये बिना ही शान्ति से बैठे ।

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिंडं च संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥३७॥
[उत्त० अ० १, गा० १९]

शिष्य गुरु के समक्ष पाँव पर पाँव चढ़ाकर, छाती से घुटने सटा कर, एवं पैर फैला कर न बैठे।

आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥३८॥
[उत्त० अ० १ गा० २]

आचार्यों द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य कभी मौन का अवलम्बन न करे, बल्कि गुरुकृपा और मोक्ष का अभिलाषी ऐसा शिष्य उनके समीप विनय से जाए।

आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥३९॥
[उत्त० अ० १ गा० २१]

गुरु एक बार आवाज दें अथवा बार-बार आवाज दें किन्तु बुद्धिमान् साधु कभी भी अपने आसन पर बैठा न रहे। वह अपना आसन छोड़कर यत्नापूर्वक गुरु के निकट जाए और उन्हें क्या कहना है वह विनयपूर्वक सुने।

आसणगओ न पुच्छेज्जा,
नेव सेज्जागओ कया।

आगम्मुक्कुडुओ सन्तो,
पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥४०॥
[उत्त० अ० १ गा० २२]

गुरु महाराज से यदि कुछ पूछना हो तो शिष्य अपने आसन अथवा शय्या पर बैठे-बैठे कभी नहीं पूछे, अपितु गुरु के समीप आकर और उनके पास उकडू बैठ कर और दोनों हाथ जोड़कर पूछे।

जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥४१॥
[उत्त अ १ गा २७]

गुरु महाराज कोमल अथवा कठोर शब्दों से मुझे जो कुछ शिक्षा देते हैं उसमें मेरी ही भलाई छिपी हुई है—मुझे ही लाभ है ऐसा विचार कर शिष्य उसे अत्यधिक सावधानी से ग्रहण करे।

अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णई पण्णो, वेस्सं होइ असाहुणो ॥४२॥
[उत्त० अ० १ गा २८]

प्रज्ञावान् साधु सदा ऐसा मानता है कि गुरु महाराज (मधुर अथवा कटु शब्दों से) मुझे जो कुछ अनुशासित करते हैं वह सब आत्मोन्नति के उपाय-स्वरूप ही है और मेरे दुष्कृतों का नाश करनेवाला है। परन्तु जो असाधु है उसके लिये वही अनुशासन द्वेष का कारण बनता है। आशय यह है कि गुरुमहाराज द्वारा हितबुद्धि से किया गया उपालम्भ या कहे गये दो-चार कटु शब्दों को सुनकर

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिंड च संजए ।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥२७॥

[उत्त० अ० १ गा० १९]

शिष्य गुरु के समक्ष पाँव पर पाँव चढ़ाकर, छाती से घुटने सटा कर, एवं पैर फैला कर न बैठे।

आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥२८॥

[उत्त० अ० १ गा० २०]

आचार्यों द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य कभी मौन का अवलम्बन न करे, बल्कि गुरुकृपा और मोक्ष का अभिलाषी ऐसा शिष्य उनके समीप विनय से जाए।

आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥२९॥

[उत्त० अ० १ गा० २१]

गुरु एक बार आवाज दें अथवा बार-बार आवाज दें, किन्तु बुद्धिमान् साधु कभी भी अपने आसन पर बैठा न रहे। वह अपना आसन छोड़कर यत्नापूर्वक गुरु के निकट जाए और उन्हें क्या कहना है, वह विनयपूर्वक सुने।

आसणगओ न पुच्छेज्जा,
नेव सेज्जागओ कया।

कुशिष्य

वहणं वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ॥१॥

जैसे गाड़ी में सधे हुए बैलों को जोतने से वे सरलता से वन-प्रान्तर को पार कर जाते हैं वैसे ही सुशिष्यों को योग-संयम रूपी वाहन में जोतने से वे भी संसाररूपी अरण्य को सुखपूर्वक पार कर जाते हैं।

खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जई ॥२॥

जो पुरुष वाहन में अविनीत बैलों को जोतता है वह उन्हें पीटते-पीटते हैरान हो जाता है क्लेश का अनुभव करता है और उसका कोड़ा भी टूट जाता है।

एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥३॥

जब वे दुष्ट बैल वाहक की इच्छा के अनुसार गमन नहीं करते तब वह क्रोध में आकर एक की पूंछ मरोड़ता है तो दूसरे को बार-बार आर लगाता है। तब एक बैल जुए को तोड़ डालता है और दूसरा इधर-उधर जाता है।

एगो पडइ पासेण, निवेसइ निवज्जई ।
उक्कुद्दई उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥४॥

कोई अविनीत बैल एक तरफ भूमि पर गिर पड़ता है कोई बैठ जाता है कोई सो जाता है कोई उछलता है, कोई कूदता है तो कोई तरुण गाय के पीछे भागने लग जाता है ।

माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं ।
मयलक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥५॥

कोई कपट कर सिर झुकाकर गिर पड़ता है कोई गुस्से हो पीछे भागने लगता है कोई मृत लक्षण से खड़ा रहता है तो कोई पूँछ उठाकर वेग से भागता है ।

छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं, दुद्दन्ते भञ्जए जुगं ।
सेवि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायई ॥६॥

कोई अविनीत बैल नासिका-रज्जु (नथ) को तोड़ देता है कोई निरंकुश बनकर जुए को तोड़ डालता है, तो कोई सूँ-सूँ की आवाज निकालता भागी को ले भाग जाता है ।

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ती धिइदुब्बला ॥७॥

ऐसे अविनीत बैलों को गाड़ी में जोड़ने पर जो स्थिति होती है, वही स्थिति धर्मरूपी वाहन में कुशिष्यों को जोतने से होती है

धर्मरूपी वाहन में नियोजित किये गये कुशिष्य दुर्बल धृतिवाले होने से भली भाँति प्रवृत्ति नहीं करते।

इड्ढीगारविए एगे, एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥८॥

कुशिष्यों में से कोई ऋद्धिगारव में कोई रसगारव में तो कोई सातागारव में निमग्न होते हैं इसी तरह कोई तो दीर्घकाल तक क्रोध को धारण करनेवाले भी होते हैं।

विवेचन—गृहस्थ अपनी ऋद्धि—सम्पत्ति का अभिमान करे तो ऋद्धिगारव कहलाता है। साधु अपने भक्तमण्डल अथवा शिष्यमण्डल का अभिमान करे तो ऋद्धिगारव कहलाता है। गृहस्थ प्राप्त सुन्दर भोजन का अभिमान करे तो वह रसगारव कहलाता है और साधु प्राप्त इच्छानुसारी भिक्षा का अभिमान करे तो वह रसगारव कहलाता है। गृहस्थ अपनी सुख-सुविधा का अभिमान करे तो वह सातागारव कहलाता है और साधु 'मुझे जैसा आनन्द किसी को नहीं है' ऐसा अभिमान करे तो वह सातागारव कहलाता है।

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए।
थद्धे एगेऽणुसासम्मि, हेऊहिं कारणेहि य ॥९॥

कोई भिक्षाचरी में आलस्य करता है, तो कोई अपमान से डरता है। कोई जाने योग्य घरों में जाता नहीं। कुछ मिथ्याभिमान से ऐसे अकड़ ही जाते हैं कि किसी को वंदन करने के लिए ही तैयार नहीं। ऐसे हेतु और विविध कारणों के वशीभूत कुशिष्यों को मैं कैसे

अनुशासन में रखूं ? ऐसा विचार आचार्य को खेदपूर्वक करना पड़ता है।

सो वि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई ।
आयरियाण तु वयण, पडिकूलइऽभिक्खण ॥१०॥

कुशिष्य बीच में बोल उठता है, अपने गुरु अथवा अन्य साधुओं पर मिथ्या दोषारोपण करता है और आचार्य के वचनो के विपरीत बार-बार व्यवहार करता है।

न मा मम वियाणाइ, न सा मज्झ दाहिई ।
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोऽत्थ वज्जउ ॥११॥

(भिक्षा के लिये जाने का आदेश देने पर प्रत्युत्तर में कुशिष्य कहता है कि) वह श्राविका मुझे नही पहचानती वह मुझे आहार नही देगी मैं मानता हूं कि वह घर भी नही होगी। अच्छा हो कि आप अन्य साधु को ही भेज द।

पमिया पलिउ चन्ति, त परियन्ति समतओ ।
रायवेट्ठिं व मन्नता, करेन्ति भिउडिं मुहे ॥१२॥

कुशिष्य जिस कार्य के लिये भेजे गये हों वह कार्य करते नही और आकर मनमाना उत्तर दे देते हैं। वे इधर उधर भटकते रहते है किन्तु गुरु के पास बैठते नहीं। कभी-कभी कार्य करते भी है तो राजा की बेगारी के समान करते है और मुँह बिगाड़ते है।

बाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं ॥१३॥

अह सारही विचिंतेइ, खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१४॥

ऐसे प्रसंग पर धर्मरथ के सारथि स्वरूप आचार्य विचार करते हैं कि मैने इनको शास्त्र पढ़ाये अपने पास रखा आहार-पानी से इनका पोषण किया। किन्तु जिस तरह हंसों के पंख फूटने पर वे अलग अलग दिशाओं में उड़ जाते हैं उसी तरह सब भी स्वेच्छानुसारी आचरण करनेवाले बन गये हैं। मुझे भला इन दुष्ट शिष्यों से क्या प्रयोजन है? मेरी आत्मा व्यर्थ ही खिन्न होती है।

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे जहित्ताणं, दढं पगिण्हई तवं ॥१५॥

[उत्त० अ २७, गा २ से १६]

जैसे गधे आलसी और अविनीत होते हैं वैसे मेरे शिष्य हैं। इन आलसी और अविनीत गधों जैसे शिष्यों को छोड़कर मैं उग्र तप का आचरण क्यों न करूं? तात्पर्य यह है कि मोक्षाभिलाषी आचार्य को ऐसे कुशिष्यों का त्याग करके अपना कल्याण साध लेना चाहिये।

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासन्तो, गलियस्सं व वाहए ॥१६॥

[उत्त० अ १ गा० ३]

सीधे-सादे घोड़े पर सवारी करनेवाला सवार जिस तरह आनन्द पाता है, वैसे ही पण्डितों पर अनुशासन रखनेवाला आचार्य आनन्दित होता है। वैसे अड़ियल घोड़े पर सवारी करनेवाला सवार कष्ट भोगता है वैसे ही मूर्ख शिष्यों पर अनुशासन रखनेवाला आचार्य कष्ट का भागी बनता है।

धारा २५

कुशील

चीराजिनं नगिणिणं, जडी संघाडिमुंडिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥१॥
[उत्त अ ५ गा २१]

चीवर, मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका (बौद्ध साधुओं के ओढ़ने का उत्तरीय वस्त्र) और सिर का मुण्डन आदि किसी भी दुःशील को दुर्गति से बचा नहीं सकते। तात्पर्य यह है कि बाह्य रूप (लिङ्ग) कितना भी अच्छा क्यों न हो ? किन्तु शील उत्तम हो तभी वह पुरुष सद्गति प्राप्त कर सकता है।

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥२॥
[उत्त अ १ गा ४]

जैसे सड़े हुए कानवाली कुतिया सब स्थानों से निकाल दी जाती है वैसे ही दुःशील और गुरुजनों के प्रति वैर रखनेवाला असम्बद्ध प्रलापी मनुष्य सब स्थानों से निकाल दिया जाता है।

कणकुण्डगं चइत्ता ण, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एव सीलं चइत्ता ण, दुस्सील रमई मिए ॥३॥
[उत्त अ १ गा ५]

जैसे सूअर अनाज को छोड़कर विष्ठा खाता है वैसे ही मूर्ख मनुष्य सदाचार का त्याग कर दुराचार में प्रवृत्त होता है।

सुणिया भाव साणस्स, सूयरस्स नरस्स य ।
विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥४॥
[उत्त अ १ गा ६]

कुतिया और सूअर के साथ अविनयी मनुष्य की तुलना होती देखकर निजहित चाहनेवाला व्यक्ति अपनी आत्मा को विनय और सदाचार में प्रस्थापित करे।

अविज्जो मिगा जहा सता, परितायाण वज्जिया ।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥५॥
परियाणियाणि संकंता, पासियाणि असंकिणा ।
अन्नाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं ॥६॥
अह तं पवेज्ज बज्झं, अहे बज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदेण देहए ॥७॥
अहियप्पाऽहियप्पन्नाणे, विसमंतेणुवागए ।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥८॥
[सू० श्रु० १ अ १ उ २, गा० ६ से० ९]

रक्षण-रहित अन्य पशु निश्शङ्क (सुरक्षित) स्थान में शङ्कित रहते हैं और शङ्कित (भयग्रस्त) स्थान में निश्शङ्क रहते हैं। इस तरह सुरक्षित स्थान में शङ्का करते हुए तथा पाशवाले स्थान में शङ्कारहित बनकर वे अज्ञानी और भयग्रस्त जीव पाशयुक्त स्थान में फँस जाते हैं। यदि ये पशु सभी प्रकार के बन्धनों को लाँघ कर अथवा उसके नीचे से निकल जाय तो बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं। किन्तु मूर्ख पशुओं को यह बात दिखाई नहीं देती—समझ में नहीं आती। फलतः अपना हित न जाननेवाले ये पशु भयङ्कर पाश-वाले प्रदेश में पहुँच कर पैरों से पाश में फँस जाते हैं और वहीं नष्ट कर दिये जाते हैं।

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥९॥
धम्मपन्नवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं न संकंति, अवियत्ता अकोविया ॥१०॥
सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥११॥
जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णंतसो ॥१२॥
[सू. श्रु. १ अ. १ उ. २ गा. ९ से १२]

इस प्रकार कुछ श्रमण जो कि मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं वे शङ्कारहित स्थानों में शङ्का करते हैं और शङ्कित स्थान में अश-

क्लिन बन रहते हैं। और ऐसे ही ये मूढ़ जो सच्चा धर्म-प्रकाशना है उसमें शङ्का करते हैं और आरम्भ-समारम्भ के कार्यों में निःशङ्क बन रहते हैं।

लोभ मान माया और क्रोध का परित्याग कर मनुष्य कर्मरहित बन सकता है किन्तु अज्ञानी-मूर्ख मनुष्य इस बात को छोड़ देता है।

जो बन्धन-मुक्ति के उपायों को जरा नहीं जानते ऐसे मिथ्या दृष्टि अनार्य लोग इसी तरह पाशबद्ध पशुओं के समान अनन्त बार घात को प्राप्त होते हैं।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ ॥१३॥
[उत्त. अ. १ गा. ४२]

जो व्यवहार धर्म-सम्मत है और जिसका ज्ञानी पुरुषों ने भी सदा आचरण किया है उस व्यवहार का आचरण करनेवाला मनुष्य कभी भी निन्दा का पात्र नहीं होता।

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ॥१४॥
[सू. श्रु. १, अ. १ उ. ३ गा. १०]

अशुभ अनुष्ठान करने से दुःख की उत्पत्ति होती है। जो मनुष्य दुःख की उत्पत्ति का कारण नहीं जानते, वे भला दुःख के विनाश का उपाय किस प्रकार जान सकते हैं?

धारा २६

काम भोग

अणागयमपस्सन्ता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥१॥
[सू० श्रु १ अ० ३, उ० ४, गा० १४]

असत्कर्म से भविष्य मे होनेवाले दुःखों की ओर न देखते हुए जो केवल वर्तमान सुखो को ढूंढते हैं अर्थात् काममोग मे मग्न रहते हैं, वे यौवन और आयु के क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

जे केइ सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा काय-वक्केणं सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ २ ॥
[उत्त० अ० ६, गा०१२]

जो कोई मनुष्य शरीर के प्रति ही आसक्त हैं और मन वाणी तथा वचन से केवल रूप और रंग में पूरी तरह सराबोर रहते हैं वे सब दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं ।

जे इह सायाणुगा नरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।

किवणेण समं पगब्भिया,
न वि जाणंति समाहिमाहियं ॥ ३ ॥
[सू श्रु॰ १ अ २, उ॰ ३, गा ४]

जो मनुष्य इस जगत् में पूर्वजन्म के सुकृत्यों के फलस्वरूप सुख-वैभव को प्राप्त किये हुए हैं और काम-भोग में आसक्त होकर विलासी जीवन बिताते हैं वे कृपण की तरह धर्माचरण में शिथिलता प्रदर्शित करते हैं और ज्ञानी पुरुषों द्वारा कथित समाधि-मार्ग को नहीं जानते।

भोगामिसदोसविसन्ने,
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे,
बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥४॥
[उत्त अ ७, गा॰ ५]

भोगरूपी मांस-दोष में लुब्ध हित और मोक्ष में विपरीत बुद्धि रखनेवाला अज्ञानी मन्द और मूर्ख जीव कर्मपाश में इस प्रकार फँस जाता है जिस प्रकार मक्खी बल्गम में।

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥ ५ ॥
[उत्त अ ५, गा ४१]

भोग में फँसा हुआ मनुष्य कर्म से लिप्त होता है अभोगी कर्म से

धारा २६

काम भोग

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥१॥

[सू श्रु १ अ ३, उ० ४, गा १४]

सद्धर्म से भविष्य में होनेवाले सुखों की ओर न देखते हुए जो केवल वर्तमान सुख को ढूंढते हैं अर्थात् कामभोग में मग्न रहते हैं, वे यौवन और आयु के क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

जे केई सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा काय-वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ २ ॥

[उत्त अ ६, गा०११]

जो कोई मनुष्य शरीर के प्रति ही आसक्त हैं और मन काया तथा वचन से केवल रूप और रस में पूरी तरह सराबोर रहते हैं वे सब दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं।

जे इह सायाणुगा नरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।

जे गिद्धे कामभोगेसु एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु दिट्ठा इमा रई ॥ ९॥
[उ० अ० ५ गा० ५]

जो कोई जीव काम भोग में आसक्त होता है, वह नरक में जाता है। वह ऐसा विचार करता है कि मैंने परलोक तो देखा नहीं और यहाँ का सुख तो मुझे प्रत्यक्ष दीखता है।

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१०॥
जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥ ११ ॥
[उ० अ० ५ गा० ६-७]

ये काम-भोग तो हाथ में आये हुए हैं जबकि भविष्य में मिलने वाला सुख तो परोक्ष है। और कौन जानता है कि परलोक का अस्तित्व है या नहीं?

'जो स्थिति दूसरों की होगी वही मेरी भी होगी।' ऐसा अज्ञानी जीव बोलता है। परन्तु वह काम-भोग के अनुराग से कष्ट पाता है।

तओ से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसई ॥ १२ ॥
[उ० अ० ५, गा० ८]

सिद्ध नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण करता है और अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है। —

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥६॥

एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्कगोलए॥७॥

[उ० अ० २५, गा० ४०-४१]

गीला और सूखा ऐसे मिट्टी के दो गोलों को यदि हम किसी दीवार पर फेंके तो उनमें से जो गीला होता है वह दीवार पर चिपक जाता है और सूखा चिपकता नहीं। ठीक उसी तरह जो मनुष्य काम-भोग में आसक्त है और दुष्ट बुद्धिवाला है, वह सांसारिक बन्धनों मे फँस जाता है और जो कामभोग से विरक्त है, वह सांसारिक बन्धनों म फँसता नहीं।

गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसारवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे॥८॥

[उ० अ० १४, गा० ४७]

गीध पक्षी की उपमावाले और संसार को बढ़ानेवाले इन काम-भोगों को जानकर जैसे साँप गरुड़ के समीप शंकाशील होकर चलता है, उसी प्रकार तू भी संयममार्ग में यत्न से चल।

जे गिद्धे कामभोगेसु एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु दिट्ठा इमा रई ॥ ९॥
[उ अ ५ गा ५]

जो कोई जीव काम भोग में आसक्त होता है वह नरक में जाता है। वह ऐसा विचार करता है कि मैंने परलोक तो देखा नहीं और यहाँ का सुख तो मुझे प्रत्यक्ष दीखता है।

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१०॥
जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई ।
कामभोगाणुराएण, केसं संपडिवज्जई ॥ ११ ॥
[उ अ ५ गा६-७]

ये काम-भोग तो हाथ में आये हुए हैं जबकि भविष्य में मिलने वाला सुख तो परोक्ष है। और कौन जानता है कि परलोक का अस्तित्व है या नहीं ?

'जो स्थिति दूसरों की होगी वही मेरी भी होगी। ऐसा अज्ञानी जीव बोलता है। परन्तु वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

तओ से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ॥ १२ ॥
[उ अ ५ गा ८]

बाद में वह त्रस और स्थावर जीवों में दंड का आरम्भ करता है। किसी प्रकार का प्रयोजन सिद्ध होता हो या नहीं फिर भी वह जीवों प्राणिसमूह की विविध प्रकार से हिंसा किया ही करता है।

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥१३॥

[उ० अ० ५, गा० ९]

अज्ञानी जीव हिंसा, असत्य, कपट, चुगली, धूर्तता आदि के सेवन करने लगता है। वह मदिरा और मांस खानेवाला बनता है और उसको ही श्रेयस्कर मानता है।

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणई, सिसुनागो व्व मट्टियं ॥१४॥

[उ० अ० ५, गा० १०]

धन और स्त्रियों में आसक्त बना हुआ मोही पुरुष काया से मदमत्त बन जाता है और उसके वचनों में भी मिथ्याभिमान की झलक आ जाती है। वह केंचुआ की भाँति बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से मल का संचय करता है।

विवेचन—केंचुआ का आहार ही मिट्टी है अतः वह पेट में मिट्टी भरता है और बाहर भी मिट्टी से सना रहता है। इसी तरह मोही पुरुष भी आन्तरिक रूप से मलिन कर्मों का संग्रह करता है और बाह्य रूप से भी अपवित्र बनता है।

सत्रा पुट्टा आयंकेणं, गिलाणा परितप्पई।
पमीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥१४॥
[उत्त० अ० ५, गा० ११]

फिर मूर्खात्मा रोगों से पीड़ित होकर अनेकविध दुःखों को भोगता है। तथा परलोक से बहुत ही डरकर—भयभीत बन अपने दुष्कर्मों के लिए निरंतर पश्चात्ताप करता है।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥१६॥
[उत्त अ ६ गा ५३]

कामभोग शल्यरूप हैं कामभोग विष के समान हैं और कामभोग भयङ्कर सर्प जैसे हैं। जो कामभोगों की इच्छा करता है वह उन्हें प्राप्त किये बिना ही दुर्गति में जाता है।

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१७॥
[उत्त अ १४ गा १३]

कामभोग क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं और दीर्घकाल तक दुःख देनेवाले हैं। कामभोगों के लिए उपयुक्त सामग्री उपलब्ध करने के लिये बहुत ही कष्ट उठाना पड़ता है जबकि सुख तो क्षणमात्र का ही

मिलता है। फिर संसार से छूटने के लिये जो उपाय है उनके ये प्रतिपक्षी है—पूरे विरोधी है और अनर्थ की खान है।।

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ॥१८॥
[उत्त० अ० १९, गा० १]

जैसे किंपाक फल खाने का परिणाम अच्छा नहीं होता वैसे ही परिभुक्त भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

विवेचन—किंपाक फल दीखने मे सुन्दर और स्वाद मे मीठा होता है किन्तु उसके खाते ही जहर चढ़ने लगता है और शीघ्र ही प्राण निकल जाते है।

जहा य किंपागफला मणोरमा
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥१९॥
[उत्त० अ० ३२,गा० २०]

जिस तरह किंपाक फल स्वादु और वर्ण से मनोहर होते है किन्तु उसके खाते ही प्राण का विनाश हो जाता है ठीक ऐसा ही काम-भोग का विपाक समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि कामभोग प्रथम क्षण मे मनोहर लगते है किन्तु भोगने के पश्चात् अत्यन्त दुःखप्रद सिद्ध होते है।

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२०॥

[उत्त० अ० १३ गा० १६]

(कामवासना का पोषण करनेवाले तथा बढ़ानेवाले) सभी गीत विलाप तुल्य हैं, सभी नृत्य विडम्बना के समान हैं और सर्व आभूषण भाररूप हैं। इसी तरह सर्वप्रकार के काम-भोग अन्त में दुःख को ही लानेवाले हैं।

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥२१॥

[उत्त० अ० १३, गा० ३१]

समय बहता जाता है रात्रियाँ व्यतीत हुई जाती हैं और पुरुषों के कामभोग भी नित्य नहीं हैं। जैसे पक्षी फलहीन वृक्षों को छोड़ देते हैं वैसे ही कामभोग भी क्षीण शक्तिवाले पुरुषों के पास आकर उनको छोड़ देते हैं।

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥२२॥

[सू० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० १०]

हे मनुष्य ! तू जीवन को शीघ्रगामी मानकर पापकर्मों से विरत

मिलता है। फिर संसार से छूटने के लिये जो उपाय हैं उनके ये प्रतिपक्षी हैं—यहाँ विरोधी हैं और अनर्थ की खान हैं।

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ॥१८॥
[उत्त० अ० १९, गा० १]

जैसे किंपाक फल खाने का परिणाम अच्छा नहीं होता वैसे ही परिभुक्त भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

विवेचन—किंपाक फल दीखने में सुन्दर और स्वाद में मीठा होता है किन्तु उसके खाते ही जहर चढ़ने लगता है और शीघ्र ही प्राण निकल जाते हैं।

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥१९॥
[उत्त० अ० ३२,गा० २]

जिस तरह किंपाक फल स्वाद और वर्ण से मनोहर होते हैं किन्तु उसके खाते ही प्राण का विनाश हो जाता है ठीक ऐसा ही कामभोग का विपाक समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि कामभोग प्रथम क्षण में मनोहर लगते हैं किन्तु भोगने के पश्चात् अत्यन्त दुःखकर सिद्ध होते हैं।

इणरमासे य बुज्झह,
गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥२५॥
[सू० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० ८]

इस संसार में तू जीवन को ही देख। उसे ही अच्छी-भाँति परख। वह तरुणावस्था में अथवा सौ वर्ष की आयु में ही टूट जाता है। यहाँ तेरा कितना क्षणिक निवास है इसे तू अच्छी तरह समझ। आश्चर्य है कि आयु का विश्वास न होने पर भी मनुष्य कामभोग में आसक्त रहते हैं।

इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झइ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥२६॥
[उत्त० अ० ७, गा० २५]

इस संसार में कामभोग से निवृत्त न होनेवाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है। मोक्षमार्ग को सुनकर भी वह पुनः पुनः भ्रष्ट हो जाता है।

वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए।
स अन्तसो अप्पथामए, नाइवहे अबले विसीयइ॥२७॥
एवं कामेसणं विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामे न कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ॥२८॥
[सू० श्रु० १ अ० २ उ० ३ गा० ५-६]

जैसे वाहक द्वारा पीड़ा पहुँचाकर चलाया गया बैल थक जाता है और मार खाने पर भी निर्बल होने के कारण चल नहीं सकता और

हो या । जो मनुष्य असंयमी बनकर काम-मूर्च्छित हो जाते हैं वे मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् हिताहित का विवेक करने में शक्तिमान् नहीं रहते ।

असुयं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया ।
विणिअट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥२३॥
[दश० अ० ८, गा० ३४]

मनुष्य की आयु परिमित (अल्प) है और प्राप्त जीवन क्षणभंगुर है । मात्र सिद्धिमार्ग ही नित्य है, ऐसा मानकर भोगों से विरक्त होना चाहिये ।

संबुज्झह ! किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥२४॥
[सू० श्रु० १ अ० २, उ० १ गा० १]

हे लोगो ! तुम समझो । इतना क्यों नहीं समझते कि परलोक में सम्बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । जो रात्रियाँ बीत जाती हैं, वे पुनः लौट नहीं आती और मनुष्य का जीवन भी पुनः प्राप्त होना सुलभ नहीं है । तात्पर्य यह है कि कामभोग का परित्याग करके इस जीवन में जितना बन सके उतना आत्मकल्याण कर लो ।

इह जीवियमेव पासहा,
तरुणे वाससयस्स तुट्टई ।

देवलोक सहित अखिल विश्व में जो कोई शारीरिक और मानसिक दुःख हैं वे सब काम-भोग की आसक्ति में से ही पैदा हुए हैं। एक-मात्र वीतराग ही उनका अन्त प्राप्त कर सकते हैं।

कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ ॥२१॥

[आ० श्रु० १, अ० २ उ० ४]

विषयों का लोलुपी यह पुरुष (विषयों के चले जाने पर) शोक करता है विलाप करता है, लज्जा-मर्यादा छोड़ देता है और अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करता है।

यह मन्द मे कष्ट का अनुभव करता है वैसे ही हीन मनोबलवाला अविवेकी पुरुष युवावस्था प्राप्त होने पर भी कामभोगरूपी कीचड़ से बाहर नहीं निकल पाता। वह प्रायः ऐसे ही विचार करता रहता है कि 'मैं आज अथवा कल कामभोगों को छोड़ दूँगा'। सुख की इच्छा रखनेवाला पुरुष कामभोग की कामना कदापि न करे और प्राप्त भोगों को भी अप्राप्त कर द अर्थात् छोड़ दे।

> दुप्परिच्चया इमे कामा
>
> नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
>
> अह सन्ति सुव्वया साहू,
>
> जे तरंति अतरं वणिया वा ॥२६॥
>
> [उत्त० अ० ८ गा० ६]

कामभोगों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है। निर्बल पुरुष इन्हें सरलता से नहीं छोड़ सकते। परन्तु जो सुव्रतों को धारण करनेवाले साधु पुरुष हैं वे जहाज द्वारा व्यापार करनेवाले पुरुषों के समान कामवासना के दुस्तर समुद्र को पार कर जाते हैं।

> कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
>
> सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
>
> जं काइयं माणसियं च किंचि,
>
> तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥३०॥
>
> [उत्त० अ० ३२ गा० १९]

देवलोक सहित अखिल विश्व में जो कोई शारीरिक और मानसिक दुःख हैं वे सब काम-भोग की आसक्ति में से ही पैदा हुए हैं। एकमात्र वीतराग ही उनका अन्त प्राप्त कर सकते हैं।

कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, झूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ ॥२१॥

[आ० श्रु० १, अ० २, उ० ५]

विषयों का लोलुपी यह पुरुष (विषयों के चले जाने पर) शोक करता है विलाप करता है लज्जा-मर्यादा छोड़ देता है और अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करता है।

प्रमाद

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥१॥

[सू. श्रु. १ अ. ८, गा. ३]

तीर्थङ्करादि महापुरुषों ने प्रमाद को कर्मोपार्जन का कारण बताया है और अप्रमाद को कर्मक्षय का। इसी कर्मोपार्जन और कर्म-क्षय के कारणभाव से ही मनुष्य को बाल और पंडित कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जो प्रमाद के वशीभूत होकर कर्मोपार्जन करता है वह बाल है—अज्ञानी है और जो अप्रमत्त बनकर कर्म का क्षय करता है वह पण्डित है—ज्ञानी है।

विवेचन—धर्माराधन में आलस्य और विषय-कषाय में प्रवृत्ति इसे सामान्यतया प्रमाद कहा जाता है। इस प्रकार के प्रमाद का सेवन करते हुए कर्म का उपार्जन होता है अर्थात् आत्मा को कर्म का बन्धन होता है और उससे आत्मा भारी बन जाती है। जबकि अप्रमत्त बनने से अर्थात् सदनुष्ठान का सेवन करने से कर्म का क्षय होता है और आत्मा हलकी बनती है। इसलिये सुज्ञ मनुष्य के लिए प्रमाद का त्याग करना ही उचित है।

इम च मे अत्थि इम च नत्थि,
इम च मे किच्च इम अकिच्च ।
त एवमेवं लालप्पमाण,
हरा हरति त्ति कह पमाए ॥२॥
[उत्त अ १४ गा १५]

'यह मेरा है' 'यह मेरा नही है' 'यह मैंने किया है' 'यह मैंने नही किया', इस प्रकार संलाप करते हुए पुरुष का आयुष्य रात्रि और दिवसरूपी लुटेरे लूट करते है वहाँ प्रमाद कैसे किया जाय ?

असखय जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताण ।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते,
किण्णु विहिंसा अजया गहिन्ति ? ॥३॥
[उत्त अ० ४ गा १]

जीवन टूट जाने के बाद जुड़ता नही और जरावस्था के आ पहुँचने पर उसमे बचाव नहीं रहा जा सकता। जो प्रमत्त है अनेक प्रकार की हिंसा करनेवाले है और सयम-विहीन है वे अन्त समय मे किसकी शरण मे जाएँगे ?

जे पावकम्मेहि धण मणुस्सा,
समाययन्ती अमइ गहाय ।

पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥४॥
[उत्त० अ ४ गा २]

जो मनुष्य कुमति से पापकर्म करता हुआ धन संपादन करते है वह विषय रूप पाश मे बंध जाता है। ऐसे मनुष्य संग्रह किये हुए धन को यहां पर छोड़ नरक मे जाते है क्योंकि उन्होंने इस तरह धन उपार्जन करते हुए कई प्राणियों के साथ वैरानुबन्ध किया है।

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥५॥
[उत्त० अ ४, गा ४]

संसारी जीव अपने कुटुम्ब-परिवार के लिये कृषि वाणिज्य आदि प्रवृत्तियाँ कर कर्म बाँधता है। पर जब वह कर्म का फल भोगने का समय आता है तब बन्धुगण बन्धुता नही दिखलाते अर्थात् उन कर्मों के फल का बँटवारा नही करवाते। अतः कर्मों का फल उसे अकेले को ही भोगना पड़ता है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणन्तमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥६॥
[उत्त० अ ४, गा ५]

प्रमादी पुरुष इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी धन के द्वारा अपना रक्षण नहीं कर सकता। अनन्त मोहवाले इस प्राणी का विवेकरूपी दीपक बुझ जाता है अतः वह न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देख कर कार्य करता रहता है। तात्पर्य यह कि वह न्याय-मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता।

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पण्डिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारुण्डपक्खीव चरेऽप्पमत्तो ॥७॥

[उत्त० अ० ४ गा० ६]

मोहनिद्रा में गाढ़ सोये हुए मनुष्यों के बीच रहते हुए भी सदा जागृत बुद्धिमान् पण्डित प्रमाद का विश्वास न करे। अर्थात् वह प्रमादी न बने। काल भयंकर है और शरीर निर्बल ऐसा मानकर वह भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त बनकर विचरण करे।

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

[उत्त० अ० ४, गा० ८]

जैसे सधा हुआ कवचधारी घोड़ा अपनी स्वच्छन्द वृत्ति को रोकने के पश्चात् ही विजयी होता है वैसे ही मनुष्य भी अपनी स्वच्छन्द

एव मणुयाण जीविय,
समय गोयम ! मा पमायए ॥११॥
[उत्त अ १ गा २]

जैसे कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस की बूँद गिरने की तैयारी मे रहती है और थोडे समय तक ही टिकती है वैसे ही मनुष्य का जीवन भी नष्ट होने की स्थिति मे ही रहता है और अल्प समय तक ही स्थिर रहता है ऐसा मानकर हे गौतम ! तू समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

इइ इत्तरियम्मि आउए,
जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रय पुरे कड,
समय गोयम ! मा पमायए ॥१२॥
[उत्त अ १ गा ३]

आयु थोडा है और जीवितव्य अनेकविध विघ्नों से भरा हुआ है अतः पूर्व भव के कर्मों को रज दूर करने के लिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सव्वपाणिण।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥
[उत्त अ १ गा ४]

सर्व प्राणियों को दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ है क्योंकि दुष्कर्म का विपाक अत्यन्त गाढ होता है। अतः हे गौतम! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

विवेचन—कहने का आशय यह है कि प्राणी पहले किये हुए गाढ कर्मों को भोग ले और पुण्य का पुंज संचय करे तब ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है।

एवं भवससारे ससरइ,
सुहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो,
समयं गोयम! मा पमायए ॥१४॥
[उत्त० अ० १ गा० १५]

इस प्रकार प्रमाद की अधिकतावाला जीव अपने शुभाशुभ कर्मों से संसार में परिभ्रमण करता है। अतः हे गौतम! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आरियत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलक्खुया,
समयं गोयम! मा पमायए॥ १५॥
[उत्त० अ० १ गा० १६]

मनुष्य-जन्म मिलने पर भी आर्यत्व मिलना अत्यन्त कठिन है

क्योंकि मनुष्यों में भी अनेक दस्यु और म्लेच्छ होते हैं अर्थात् अनार्य होते हैं। इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

> लद्धूण वि आरियत्तणं,
> अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
> विगलिन्दियया हु दीसई,
> समयं गोयम ! मा पमायए ॥१६॥
>
> [उत्त० अ० १० गा० १७]

आर्यत्व प्राप्त करने के उपरान्त भी पाँचों इन्द्रियों से पूर्ण होना दुर्लभ है क्योंकि अनेक मनुष्य इन्द्रियों की विकलता न्यूनता अथवा हीनता वाले होते हैं। अतः हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

> अहीणपंचेंदियत्तं पि से लहे,
> उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
> कुतित्थिनिसेवए जणे,
> समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥
>
> [उत्त० अ० १० गा० १८]

पाँच इन्द्रियों से पूर्ण होने पर भी उत्तम धर्म का श्रवण वस्तुतः दुर्लभ है ; क्योंकि बहुत से मनुष्य कुतीर्थियों की सेवा करनेवाले होते हैं। इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

लद्धूण वि उत्तम सुइं
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥
[उत्त० अ० १ गा० १८]

उत्तम धर्मश्रवण का अवसर प्राप्त होने पर भी उस पर श्रद्धा होना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि बहुत से लोग उत्तम धर्मश्रवण के पश्चात् भी मिथ्यात्व का सेवन करते दिखाई देते हैं। इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

धम्मं पि हु सद्दहन्तया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेसु मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
[उत्त० अ० १ गा० १]

धर्म पर गाढ श्रद्धा बैठ जाने पर भी उसका काया से आचरण करना अति कठिन है क्योंकि धर्म पर श्रद्धा रखनेवाले लोग भी कामभोगों में मूर्च्छित दिखाई देते हैं। इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

से सायबले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

[उत्त अ १ गा १]

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है तेरे केश सफेद होते जा रहे हैं और तेरा सारा बल भी घट रहा है इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अरई गण्ड विसूइया,
आयंका विविहा फुसन्ति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम मा पमायए ॥२१॥

[उत्त अ १ गा १०]

अरुचि फोड़े फुन्सी अजीर्ण दस्त आदि विविध रोग तुझे घेरने लगे हैं। तेरा शरीर दिन ब दिन दुर्बल हो रहा है और विनाश की अन्तिम सीढ़ी पर आ पहुँचा है। अतः हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

[उत्त अ १ गा १]

जैसे शरद ऋतु का कमल पानी से अलिप्त रहता है वैसे ही तू भी अपने स्नेहभाव को छिन्न भिन्न कर दे और अपने समस्त स्नेह भाव को दूर करने में हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

चिच्चा ण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वन्तं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२९॥
[उत्त० अ० १० गा० २९]

तू धन और भार्या को छोड़ कर अनगार धर्म मे दीक्षित हो गया है। अब इस वमन किये हुए विषयभोगों को पुनः भोगने की इच्छा मत कर। अतः इस कार्य मे हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अवउज्झिय मित्तबन्धवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं बिइयं गवेसए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥३०॥
[उत्त० अ० १० गा० ३०]

मित्र, बन्धुवर्ग तथा बहुत-सा धन छोड़कर तू यहाँ आया है अतः फिर से उसकी इच्छा मत कर। हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अवसोहिय कण्टगापहं,
ओइण्णोऽसि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समयं गोयम! मा पमायए ॥२५॥
[उत्त० अ० १० गा० ३२]

कुतीर्थरूपी कण्टकमय मार्ग को छोड़कर तू मोक्ष के विराट मार्ग पर आया है। अतः विशुद्धमार्ग पर जाने के लिये हे गौतम! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम! मा पमायए ॥२६॥
[उत्त० अ० १० गा० ३३]

जैसे निर्बल भारवाहक विषम मार्ग पर नहीं चलता और कदाचित् चलता भी है तो बाद में पछताता है वैसे ही संयम का भार वहन करनेवाले को चाहिये कि वह विषममार्ग पर न चले। कदाचित् चला भी जाय तो बाद में पश्चात्ताप करे इसलिये हे गौतम! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।

अभितुर पार गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥
[उत्त० अ० १० गा० ३४]

निःसंदेह तू संसारसमुद्र को तैर गया है फिर भला किनारे पहुँच कर क्यों बैठ रहा है ! उस पार पहुँचने के लिये तुझे शीघ्रता करनी चाहिये। इसमें हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥२८॥
[उत्त० अ० ३२, गा० १११]

अनादि काल से उत्पन्न समस्त दुःखों से छूटने का यह मार्ग बतलाया गया है जिसका पूर्णतया आचरण कर जीव क्रमशः अत्यन्त सुखी होते हैं।

— ! —

धारा २८

विषय

रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति,
चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१॥
[उत्त० अ ३२ गा २२]

रूप को ग्रहण करनेवाली चक्षुरिन्द्रिय कहलाती है और चक्षुरिन्द्रिय का ग्राह्य विषय रूप (सौन्दर्य) है। मनोज्ञ (प्रिय) रूप राग का कारण बनता है एवं अमनोज्ञ (अप्रिय) रूप द्वेष का।

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥२॥
[उत्त० अ ३२, गा २४]

जैसे स्निग्ध दीपशिखा के दर्शन से आकृष्ट बना हुआ रागातुर

पतंग अकाल मौत का शिकार बनता है, वैसे ही रूप में अत्यन्त आसक्ति रखनेवाला असमय में ही विनाश का भोग बनता है।

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू,
न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥२॥
[उत्त० अ० ३२ गा २५]

जो जीव अरुचिकर रूप देख कर तीव्र द्वेष करता है वह उसी समय दुःख का अनुभव करता है। वह अपने दुर्दम्य दोष से ही दुःखी होता है। रूप उसे कुछ भी दुःख नहीं देता।

एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥३॥
[उत्त० अ० ३२, गा २६]

जो जीव मनोहर रूप के प्रति एकान्त राग रखता है और अरुचिकर रूप के प्रति ऐकान्तिक द्वेष रखता है वह अज्ञानी अनन्त दुःखों का शिकार बनता है। जबकि विरक्त मुनि उसमें लिप्त नहीं होता। (इसलिए वह उस दुःख-समूह का शिकार नहीं बनता)।

रूवाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।

सिंचति व परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥५॥
[उत्त अ० ३२ गा २७]

रूप की माया के वश में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ के लिये रागान्ध बनकर चराचर (त्रस और स्थावर) जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है उन्हें अनेकविध कष्ट देता है और अनेक से पीड़ा पहुँचाता है।

रूवाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥६॥
[उत्त अ० ३२, गा ८]

रूप के मोह में फँसा जीव मनोहर रूपवाले पदार्थों की प्राप्ति में उसके रक्षण और व्यय में तथा वियोग की चिन्ता में संलग्न रहता है। वह सम्भोगकाल में भी अतृप्त ही रहता है। फिर भला उसे सुख कहाँ से मिले ?

रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥७॥
[उत्त अ० ३२, गा २९]

प्रिय रूप को पाने का लालची और आसक्त जीव कदापि सन्तुष्ट नहीं होता और असन्तुष्ट होने के कारण वह दुःखों का भोगी बनता है। तथा दूसरे की वस्तुओं के प्रति आतुर होकर उनके स्वामी के दिये बिना ही ले लेता है अर्थात् उसकी चोरी करने के पाप तक पहुँच जाता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥८॥
[उत्त० अ० ३२ गा० ३]

तृष्णा के वशीभूत हुआ चोरी करनेवाला और रूप के परिग्रह में अतृप्त जीव लोभ दोष से माया एवं मृषावाद की वृद्धि करता है परन्तु फिर भी वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥६॥
[उत्त० अ० ३२ गा० ३१]

यह दुरन्त आत्मा झूठ बोलने के पहले और पश्चात् और बोलने समय भी दुःखी होता है। साथ ही अदत्त वस्तु ग्रहण करने के

पश्चात् भी वह रूप से सन्तुष्ट न होने के कारण सदैव दुःखी रहता है। उसका कोई सहायक नहीं होता।

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥१०॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ३२]

इस प्रकार रूप में आसक्ति रखनेवाले मनुष्य को थोड़ा-सा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए उसने अपार कष्ट उठाया उसका उपभोग करने में भी अत्यन्त कष्ट है।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥११॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ३३]

इसी तरह अमनोज्ञरूप के प्रति द्वेष करनेवाला जीव भी दुःख की परम्परा को प्राप्त होता है और दुष्ट चित्त से कर्म का उपार्जन करता है। फिर वही कर्म उसके लिए विपाक काल में दुःखरूप हो जाता है।

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण।

न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पुक्खरिणीपलासं ॥१२॥
[उत्त० अ० ३२, गा ३४]

शब्द से विरक्त मनुष्य शोकरहित हो जाता है। जैसे जल में रहते हुए भी कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता वैसे ही संसार में रहते हुए भी वह विरक्त पुरुष दुःख-समूह से लिप्त नहीं होता।

सद्दस्स सोयं गहणं वयंति,
सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१३॥
[उत्त० अ० ३२ गा ३६]

शब्द को ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय कहलाती है और श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्यविषय शब्द है। मनोज्ञ (प्रिय) शब्द राग का कारण बनता है, जबकि अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्द द्वेष का कारण बनता है।

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिए व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥१४॥
[उत्त० अ० ३२ गा ३७]

जैसे मधुर शब्द का श्रवण करने मे सरक्त रागातुर हरिण असमय में ही मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही शब्द में अत्यन्त आसक्ति रखनेवाला भी अकाल म विनाश को प्राप्त होता है।

विवेचन—इसके पश्चात् चक्षुरिन्द्रिय के लिये जो कुछ कहा गया है वही श्रोत्रेन्द्रियादि सभी इन्द्रियों के बारे मे समान रूप से समझना चाहिये।

गंधस्स घाण गहण वयंति,
घाणस्स गंध गहणं वयंति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥१५॥
[उत्त० अ ३२ गा० ४८]

गन्ध को ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रिय कहलाती है और घ्राणेन्द्रिय का ग्राह्यविषय गन्ध है। मनोज्ञ गन्ध राग का कारण बनती है जबकि अमनोज्ञ गन्ध द्वेष का कारण बनती है।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥१६॥
[उत्त० अ ३२, गा ५]

जैसे औषधि की सुगन्ध लेने के लिए आसक्त बना रागातुर

सर्प बिल से बाहर निकलते ही मारा जाता है वैसे ही गन्ध के प्रति आसक्ति रखनेवाला भी अकाल में विनष्ट हो जाता है।

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति,
जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१७॥
[उत्त० अ० ३२ गा० ६२]

रस को ग्रहण करनेवाली जिह्वा इन्द्रिय (अथवा रसनेन्द्रिय) कही जाती है और जिह्वा इन्द्रिय का विषय रस है। मनोज्ञ (प्रिय) रस राग का कारण बनता है जबकि अमनोज्ञ (अप्रिय) रस द्वेष का कारण बनता है।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥१८॥
[उत्त० अ० ३ गा० ६३]

जैसे मांस खाने के लिए लालची बना मत्स्य कांटी के कांटे में फँस कर अकाल-मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही रस में अति आसक्ति रखनेवाला भी अकालमिक मृत्यु को प्राप्त होता है।

फासस्स कायं गहणं वयंति,
कायस्स फासं गहणं वयंति।

रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१९॥
[उत्त० अ० ३२ गा० ७४]

स्पर्श को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय काया (अथवा स्पर्शेन्द्रिय) कहलाती है और काया का ग्राह्य विषय स्पर्श है। मनोज्ञ (प्रिय) स्पर्श राग का कारण बनता है जबकि अमनोज्ञ (अप्रिय) स्पर्श द्वेष का कारण बनता है।

फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥२०॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ७६]

जैसे शीतल स्पर्श का लोभी भैंसा रागातुर बनकर जंगल के तालाब मे गिरता है और मगर का भक्ष्य बन अकाल में मरण को प्राप्त होता है, वैसे ही स्पर्श में अति आसक्ति रखनेवाला भी अकाल मे ही विनष्ट होता है।

भावस्स मणं गहणं वयंति,
मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥२१॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ८८]

मन भाव को ग्रहण करता है और भाव मन का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ भाव राग का कारण बनता है, जबकि अमनोज्ञ (अप्रिय) भाव द्वेष का कारण बनता है।

> भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
> अकालियं पावइ से विणासं।
> रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
> करेणुमग्गावहिए गजे वा ॥२२॥
>
> [उत्त० अ० ३२, गा ८८]

जैसे रागातुर और कामवासना में आसक्त हाथी हथिनी के प्रति आकर्षित होकर मृत्यु पाता है वैसे ही जो मनुष्य भाव में तीव्र आसक्ति रखता है वह (उन्मार्ग में प्रेरित होकर) असमय में ही विनाश को प्राप्त होता है।

> एविन्दियत्था य मणस्स अत्था,
> दुक्खस्स हेऊ मणुयस्स रागिणो।
> ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
> न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥२३॥
>
> [उत्त० अ० ३२, गा १]

इन्द्रिय और मन के विषय रागी पुरुष के लिये ही दुःख के कारण बनते हैं। ये विषय वीतराग को जरा सा भी दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाते।

न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥२४॥
[उत्त० अ० ३२ गा० १०१]

कामभोगादि विषय न तो राग-द्वेष को दूर कर सकते हैं और न उनकी उत्पत्ति के कारण हैं किन्तु जो पुरुष उनमें राग अथवा द्वेष करता है, वही राग और द्वेष के कारण विकृति को प्राप्त हो जाता है।

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥२५॥
[उत्त० अ० ४ गा० ११]

बार-बार मोह गुणों पर विजय प्राप्त करनेवाले और संयम-मार्ग पर चलनेवाले साधु को कष्ट देनेवाले अनेक प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्श, स्पर्शित होते हैं अर्थात् असाता उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के उपसर्गों का साधु को सामना करना पड़ता है परन्तु संयमशील भिक्षु उनके साथ मन से भी द्वेष न करे।

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।

रविराज कोई विषएज माम

माय न सवज पहेज साइ ॥२६॥

[उत्त० अ० ४, गा० १२]

कई बार मन्द दिखाई देनेवाले अनुकूल स्पर्श भी बहुत लुभावने प्रतीत होते हैं किन्तु उस तरह के स्पर्शों की इच्छा कदापि नहीं करनी चाहिये। साधु को क्रोध से अपनी आत्मा को बचाना चाहिये अभिमान का त्याग कर देना चाहिये माया का सेवन नहीं करना चाहिये और लोभ को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिये।

जऽससया तुच्छपरप्पवाई,

ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।

एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,

कंखे गुणे जाव सरीरभेउ ॥२७॥

[उत्त० अ० ४ गा० १३]

जो परलौकिक ऊपर से सस्कारी दिखाई देने पर भी वास्तव में तुच्छ, तात्त्विक-बुद्धिरहित मतैक्यवादी रागद्वेष से युक्त और परपदार्थों का सदा चिन्तन करनेवाले हैं वे अधर्म के मार्ग पर हैं ऐसा मानकर साधक को अपना शरीर विनष्ट होने तक चारित्र के गुणों को प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये।

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था,

सद्दाइया तावइयप्पगारा।

न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा,

निव्वत्तयंती अमणुन्नयं वा ॥२८॥

[उत्त० अ ३२, गा १०६]

जो इन्द्रियों के शब्दादि नाना प्रकार के विषयों से विरक्त हो गया है उसमें ये सब विषय मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता के भाव पैदा नहीं कर सकते।

सवीयरागो कयसव्वकिच्चो,

खवेइ नाणावरणं खणेणं।

तहेव जं दंसणमावरेइ,

जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥२९॥

[उत्त अ ३२, गा १०८]

जो वीतराग है वह सर्वप्रकार से कृतकृत्य है। वह क्षणमात्र में ही ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करलेता है। इसी प्रकार दर्शन का आवरण करनेवाले और विविध प्रकार के अन्तराय लानेवाले कर्मों का भी क्षय करता है।

सव्वं तओ जाणइ पासए य,

अमोहणे होइ निरंतराए।

अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,

आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥३०॥

[उत्त अ ३२, गा० १०९]

रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं

मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं ॥२६॥

[उत्त० अ० ४ गा० १२]

कई बार मन्द दिखाई देनेवाले अनुकूल स्पर्श भी बड़े लुभावने प्रतीत होते हैं किन्तु उस तरह के स्पर्शों की इच्छा कदापि नहीं करनी चाहिये। साधु को क्रोध से अपनी आत्मा को बचाना चाहिये, अभिमान का त्याग कर देना चाहिये माया का सेवन नहीं करना चाहिये और लोभ को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिये।

जे संखया तुच्छपरप्पवाई,

ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।

एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,

कंखे गुणे जाव सरीरभेओ ॥२७॥

[उत्त० अ० ४ गा० १३]

जो परतीर्थिक ऊपर से संस्कारी दिखाई देने पर भी वास्तव में तुच्छ, शास्त्र-बुद्धिरहित स्वेच्छभाषी रागद्वेष से युक्त और पर-पदार्थों का सदा चिन्तन करनेवाले हैं वे अधर्म के मार्ग पर हैं ऐसा मानकर साधक को अपना शरीर विनष्ट होने तक चारित्र के गुणों को प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये।

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, —

सद्दाइया तावइयप्पगारा।

न तस्स सद्दे वि मणुन्नय वा,
निव्वत्तयन्ती अमणुन्नयं वा ॥२८॥
[उत्त अ ३२, गा १०६]

जो इन्द्रियों के शब्दादि नाना प्रकार के विषयों से विरक्त हो गया है उसमें ये सब विषय मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता के भाव पैदा नहीं कर सकते।

सवीयरागो कयसव्वकिच्चो,
खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दसणमावरेइ,
ज अंतरायं पकरेइ कम्मं ॥२९॥
[उत्त अ० ३२, गा १०८]

जो वीतराग है वह सर्वप्रकार से कृतकृत्य है। वह क्षणमात्र में ही ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करदेता है। इसी प्रकार दर्शन का आवरण करनेवाले और विविध प्रकार के अन्तराय लानेवाले कर्मों का भी क्षय करता है।

सव्व तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥३०॥
[उत्त अ ३२, गा १०९]

वह मोह, अन्तराय और आस्रवों से रहित वीतराग सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। वह शुक्लध्यान तथा सुसमाधियुक्त होता है और आयुष्य का क्षय होने पर परमशुद्ध होकर मोक्षपद को प्राप्त करता है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को,
जं बाहई सययं जन्तुमेयं।
दीहामय विप्पमुक्को पसत्थो,
तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥२१॥
[उत्त० अ० ३२, गा २१]

बाद में वह मुक्तात्मा उन समस्त दुःखों से मुक्त हो जाती है कि जो सदा संसारी जीवों को पीड़ित करते रहते हैं। फिर दीर्घ-रोग से मुक्त बनी हुई वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त सुखी होती है।

धारा ३६

कषाय

प्रज्ञापना –सूत्र के तेरहवें पद में कषाय की व्याख्या इस प्रकार की गई है :—

> सुह-दुक्ख-सहियं कम्मखेत्तं कसंति जे जम्हा।
> कलुसंति जं च जीवं तेण कसाय त्ति वुच्चंति ॥

कई प्रकार के सुख-दुःख के फल योग्य ऐसे कर्मक्षेत्र का जो कर्षण करता है अथवा जीव के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करता है वह कषाय कहलाता है।

> कोहं च माणं च तहेव मायं,
> लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ॥१॥
> [सू श्रु० १ अ ६, गा २६]

क्रोध मान माया और लोभ ये चारों अध्यात्मदोष हैं।

> कोहं माणं च मायं च, लोहं च पाववड्ढणं।
> वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥२॥
> [दस अ ८, गा ३७]

जो अपना हित चाहता है उसे पाप की वृद्धि करनेवाले क्रोध

मान माया और लोभ इन चार महादोषों का परित्याग कर देना चाहिये।

> कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
> माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥२॥
> [दश० अ० ८, गा० ३८]

क्रोध प्रीति का नाश करता है मान विनय का नाश करता है माया मित्रों का नाश करती है और लोभ सर्व का नाश करता है।

> उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
> मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥३॥
> [दश० अ० ८, गा० ३९]

शान्ति से क्रोध को नम्रता से मान को सरलता से माया को एवं सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिये।

> कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
> माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
> चत्तारि एए कसिणा कसाया,
> सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥४॥
> [दश० अ० ८, गा० ४०]

अनिग्रहीत क्रोध और मान तथा प्रवर्धमान माया और लोभ ये चारों कुत्सित कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों को जल-सिंचन करते हैं।

अह वयइ कोहेण माणेण अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥६॥
[उत्त अ ९ गा० ५४]

क्रोध से जीव नरक में जाता है मान से जीव नीचगति पाता है माया से जीव की शुभ गति का नाश होता है तथा लोभ से जीव के लिये इस लोक और परलोक में भय उत्पन्न होता है।

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अंधे व से दंडपहं गहाय
अविओसिए धासति पावकम्मी ॥७॥
[सू अ १३ गा ५]

जो क्रोध में आकर जैसा हो वैसा आतुरता से कह देता है तथा शान्त पड़े हुए कलह-क्लेश को पुनः उत्तेजित करता है वह अनुपशान्त राग-द्वेषात्मक पापकर्मी खण्डित मार्ग ग्रहण कर चलते हुए अन्ध के समान पीड़ित होता है।

विवेचन—कोई अन्धा (पुरुष) शीघ्र पहुँचने की धुन में पास का किन्तु विषम मार्ग ग्रहण करता है तो मार्ग में रहे कण्टक तथा शिकारी पशुओं के कारण दुःख पाता है वैसे ही क्रोधादि करनेवाले पुरुष पापकारी क्रिया के फलस्वरूप विविध प्रकार की पीड़ा पाते हैं।

जे परिभवई परं जणं,
संसारे परिवत्तइ महं।

अह इखिणिया उ पाविया,
इति सखाय मुणी ण मज्जई ॥८॥
[सू श्रु १ अ २ उ २,गा १]

जो मिथ्याभिमान के आवेश में आकर दूसरे की अवज्ञा करता है वह दीर्घकाल तक ससार में परिभ्रमण करता है। परनिन्दा तो स्पष्ट रूप मे पापकारी है। यह समझ कर मुनि अपने कुल श्रुत एवं तपादि का अभिमान न करे (और किसी की निन्दा भी न करे)।

विवेचन—गृहस्थों के लिये भी यही हितशिक्षा है।

न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ॥९॥
[सू श्रु १ अ १३, गा० ११]

मनुष्य को जाति अथवा कुल ससार-सागर से तार नहीं सकते। मात्र ज्ञान और सदाचार ही तार सकते हैं।

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वई ॥१०॥
[दश अ ५, उ० २, गा ३५]

जो पूजा कीर्ति अथवा मान सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखता है, वह अति पाप करता है और मायारूपी शल्य को इकट्ठा करता है।

पुढवी साली जवा चेव,
हिरण्णं पसुभिस्सह।

पडिपुण्णं नालमेगस्स,
इइ विज्जा तवं चरे ॥११॥
[उत्त अ ८, गा १६]

किसी एक लोभी मनुष्य को चावल जौ आदि धान्य से युक्त तथा हिरण्य और पशुओं से परिपूर्ण सारी पृथ्वी दी गई हो तो भी उसे सन्तोष नहीं होगा। ऐसा जानकर विद्वान् पुरुष को तृष्णा त्यागरूपी तप का आचरण करना चाहिये।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ १२ ॥
[उत्त० अ० ८, गा० १७]

जैसे-जैसे लाभ होता जाता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ की वृद्धि होती है। दो मासा सोने से होनेवाला कार्य करोड़ों (सोने की मुहरों) से भी पूर्ण नहीं हुआ।

विवेचन—कपिल नामक ब्राह्मण राजा के पास केवल दो मासा सोना माँगने गया था। राजा ने कहा :—"जो चाहिये सो माँग।" तब क्या माँगूं ? इसी उधेड़बुन में पड़ कर वह एक सोनामुहर, पाँच सोनामुहर, पचास सोनामुहर इस तरह बढ़ते-बढ़ते करोड़ सोना मुहर माँगने के विचार तक पहुँच गया फिर भी उसे सन्तोष नहीं मिला। तात्पर्य यह है कि लोभ की कोई मर्यादा नहीं है। वह अनन्त और अपार है।

कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ ।
वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥२३॥
[उत्त० अ० २९, गा० ३६]

प्रश्न—हे भगवन् ! कषाय का परित्याग करने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! कषाय का परित्याग करने से जीव में वीतरागभाव पैदा होता है और वीतरागभाव को प्राप्त किया हुआ वह जीव सुख-दुःख में सदा समान भाववाला होता है ।

कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
कोहविजएणं खन्तिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं
कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ २४ ॥
[उत्त० अ० २९ गा० ६७]

प्रश्न—हे भगवन् ! क्रोध को जीतने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! क्रोध को जीतने से जीव क्षमागुण का उपार्जन करता है । ऐसा क्षमायुक्त जीव क्रोधवेदनीय—क्रोध कर्मपरमाणुओं का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है ।

माणविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ,
पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥२५॥
[उत्त० अ० २९, गा० ६८]

प्रश्न—हे भगवन् ! मान का मर्दन करने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! मान का मर्दन करने से जीव मार्दव (मृदुता) को प्राप्त करता है। ऐसा मार्दवयुक्त जीव मानवेदनीय-मानजन्य कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।

मायाविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
मायाविजएण अज्जवं जणयइ,
मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥१६॥
[उत्त० २६, गा०६९]

प्रश्न—हे भगवन् ! माया को जीतने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! माया को जीतने से जीव आर्जव (सरलता) गुण उपार्जन करता है। ऐसा आर्जवयुक्त जीव मायावेदनीय-माया-जन्य कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।

लोभविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
लोभविजएण संतोसं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं
न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥१७॥
[उ० अ० २६, गा ७०]

प्रश्न—हे भगवन् ! लोभ पर विजय पाने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! लोभ पर विजय पाने से जीव संतोष गुण का उपार्जन करता है। ऐसा संतोषयुक्त जीव लोभवेदनीय-लोभजन्य कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।

धारा ३०

बाल और पंडित

एएसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टई कम्मसु पावएसु ॥१॥

[सू० श्रु० १ अ० १ गा० ५]

पृथ्वीकाय आदि जीवों के साथ दुर्व्यवहार करता हुआ बाल जीव पापकर्मों से लिप्त होता है।

विवेचन—जो आत्मा सत् और असत् के विवेक से रहित है अज्ञानी है उनके लिये यहाँ बाल शब्द का प्रयोग हुआ है।

रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वन्ति ते बहुं ॥२॥

[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० ८]

बाल जीव राग-द्वेष के अधीन होकर बहुत पाप करते हैं।

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।

लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥३॥

[उत्त० अ० ६ गा० १]

जो अविद्यायुक्त हैं वे सर्व प्रकार के दुःखों को भोगनेवाले हैं। वे मूर्ख इस अनन्त संसार में अनेक बार पीड़ित होते हैं।

विवेचन—अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व अथवा ज्ञानहीन-अवस्था।

इस से जो पुरुष युक्त है वे अविद्यापुरुष है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष मोह मिथ्यात्व के कारण सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके उन्हें अविद्या-पुरुष समझना चाहिये। वे पाप-प्रवृत्ति मे सदा स्थित रहने से कर्मबन्धन करते है और उसी के फलस्वरूप भयङ्कर दुःख भोगते है। ऐसे बहुकर्मी आत्माओं का ससार बढ जाने से वे विविध योनियों मे उत्पन्न होकर मरते ही रहते है। उनकी इस जन्म-मरण की शृखला का अन्त दीर्घ काल तक नही आता।

> समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
> अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मत्ति भूएसु कप्पए ॥२॥
>
> [उत्त० अ० ६, गा २]

अतः पण्डित पुरुष एकेन्द्रियादिक पाशरूप बहुत प्रकार के जाति-पथ का विचार करके अपनी आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण करे और सब प्राणियों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करे।

> निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
> तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥३॥
>
> [दश० अ० ५, उ० २ गा ३९]

जैसे चोर सदा भयभीत रहता है और अपने कुकर्मों को वजह से ही दुःख पाता है वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भी नित्य प्रति भयभीत रहता है और अपने कुकर्मों के कारण ही दुःख पाता है। (उसकी इस स्थिति मे अन्त तक कोई परिवर्तन नहीं होता।) मृत्यु का भय सामने दीखने पर भी वह संयम की आराधना नहीं करता।

विच पसवो य नाइओ, त बाले सरणं ति मन्नइ ।
एत मम तेसुवि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥६॥

[सू श्रु १, अ ६, उ १ गा १६]

बाल जीव ऐसा मानता है कि धन पशु तथा ज्ञातिजन मेरा रक्षण करेंगे। वे मेरे हैं मैं उनका हूँ। परन्तु इस प्रकार उसकी रक्षा नहीं होती अथवा उनको शरण नहीं मिलता।

भणता अकरन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेंति अप्पयं ॥७॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसन्ना पावकम्मेहिं, बाला पण्डियमाणिणो ॥८॥

[उत्त अ ६, गा १०-११]

बन्ध और मोक्ष को माननेवाला वादीगण संयम की बातें करते है किन्तु संयम का आचरण नहीं करते हैं। वे केवल वचनों के बल से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।

अनेक प्रकार की भाषाओं का ज्ञान मनुष्य को शरणभूत नहीं होता। विद्या-मन्त्र की साधना भी कहाँ से शरणभूत हो? वे अपने को भले ही दिग्गज पण्डित मानें परन्तु पापकर्म से लिप्त होने के कारण वास्तव में अज्ञानी हैं।

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥९॥

[उत्त अ ९ गा० ४४]

जो बालजीव एक-एक महीने तक भोजन का त्याग कर केवल दर्भ के अग्र भाग पर रहे उतने भोजन से पारणा करता है वह तीर्थङ्कर प्ररूपित धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता।

विवेचन—इस जगत् मे बाल जीव भी अनेकविध तपस्याएँ करते हैं। उनमें से कुछ तो अत्यन्त क्लिष्ट होती हैं। एक-एक महीने का उपवास करना और पारणा के समय नाम मात्र का अन्न लेना यह कोई ऐसी-वैसी तपस्या नहीं है। इतना होने पर भी वह अज्ञानमूलक होने से उसका आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है। तीर्थङ्कर भगवन्तों ने जो धर्म बतलाया है, वह ज्ञानमूलक है और उसमें अहिंसा संयम तथा तप को योग्य स्थान दिया गया है। ऐसे ज्ञानमूलक धर्म के साथ अज्ञानमूलक तपश्चर्या की तुलना ही कैसे हो सकती है? इसलिये यहाँ पर कहा गया है कि—वह उसकी सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होते।

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१०॥

[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० १६]

जैसे (संकट आजाने पर) कछुआ अपने सभी अङ्गों को सिकोड़ लेता है वैसे ही विवेकी मनुष्य भी अपनी पापपरायण सभी इन्द्रियों को आध्यात्मिक जीवन द्वारा अपने भीतर सिकोड़ लेवे।

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए

उम्मेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥११॥
[सू० श्रु० १ अ० १० गा० १८]

ज्ञानी पुरुष इस सर्व लोक में रह कर छोटे तथा बड़े प्राणियों को आत्मतुल्य देखते हैं अर्थात् अपने समान ही सुख-दुःख को वृत्तिवाले मानते हैं। वे षड्जीवात्मक इस महान् लोक का बराबर निरीक्षण करते हैं और ज्ञानी बनकर अप्रमत्तों के साथ विचरण करते हैं। सार यह है कि वे इन छोटे-बड़े जीवों की हिंसा न हो जाय इसलिए सर्वथा होकर अप्रमत्त दशा धारण करते हैं।

न कम्मुणा कम्म खवन्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवन्ति धीरा।
मेहाविणो लोभमयावतीता,
सन्तोसिणो नो पकरन्ति पावं ॥१२॥
[सू० श्रु० १ अ० १२, गा० १५]

अज्ञानी जीव भी प्रवृत्तियाँ तो काफी करते हैं पर वे सभी कर्मोत्पादक होने से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय नहीं कर पाती। जबकि धीर पुरुषों की प्रवृत्तियाँ अकर्मोत्पादक अर्थात् संयमवाली होने के कारण अपने पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण कर सकती हैं। जो पुरुष वस्तुतः बुद्धिमान् हैं वे लोभ और मय—इन दोनों वृत्तियों से सदा दूर रहते हैं। और इस प्रकार सन्तोषगुण से विभूषित होने के कारण किसी भी प्रकार की पापमय प्रवृत्ति नहीं करते।

सिउडुई उ मेहावी जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥१३॥

[सू श्रु १ अ १५, गा ६]

पापकर्मों को जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष संसार मे रहते हुए भी पापों को नष्ट करता है। जो पुरुष नये कर्म नहीं बाँधता उसके सभी पाप-कर्म क्षीण हो जाते हैं।

जहा जुन्नाइ कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तस माहिए अणिहे ॥१४॥

[आ श्रु० १ अ० ४, उ० ३]

जैसे अग्नि पुरानी सूखी लकड़ियों को शीघ्र जला देती है वैसे ही आत्मनिष्ठ और मोहरहित पुरुष कर्मरूपी काष्ठ को जला डालता है।

तुलियाणं बालभावं, अबालं चेव पंडिए।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवई मुणी ॥१५॥

[उत्त अ ७, गा ३]

पण्डित मुनि बालभाव और अबालभाव की सदा तुलना करे और बालभाव को छोड़ कर अबालभाव का सेवन करे।

—१०१—

ब्राह्मण किसे कहा जाय ?

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

जो मनुष्य-जन्म लेकर स्वजनादि में आसक्त नहीं रहता और उनसे दूर रहने पर शोक नहीं करता तथा सदा आर्य-वचनों में ही रमण करता है उसको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं।
राग-द्दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥२॥

जो अग्नि के द्वारा शुद्ध किया हुआ स्वर्ण के समान तेजस्वी और शुद्ध है तथा राग, द्वेष एवं भय से रहित है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥३॥

जो तपस्वी कृश और इन्द्रियों का दमन करनेवाला है, जिसके शरीर में मांस और रुधिर कम हो गया है जो व्रतशील है और

जिसने निर्वाण—परमशान्ति प्राप्त किया है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

> तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे ।
> जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥४॥

जो त्रस और स्थावर प्राणियों को संक्षेप और विस्तार से भली-भाँति जान कर उनकी मन वचन और काया से हिंसा नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

> कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
> मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥५॥

जो क्रोध हास्य, लोभ अथवा भय से कभी झूठ नहीं बोलता उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

> चित्तमन्तमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।
> न गिण्हाइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं ॥६॥

जो सचित्त अथवा अचित्त, अल्प अथवा अधिक (पदार्थ) स्वामी के द्वारा दिये बिना ग्रहण नहीं करता उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

> दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
> मणसा-काय-वक्केणं तं वयं बूम माहणं ॥७॥

जो मन-वचन-काया से देव, मनुष्य और तिर्यंच (पशु-पक्षी) के साथ मैथुन-सेवन नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥८॥

जैसे कमल पानी में उत्पन्न होने पर भी पानी से लिप्त नहीं होता वैसे ही जो संसार के कामभोगमय वातावरण में रहते हुए भी काम-भोगों से लिप्त नहीं होता उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥९॥

जो लोलुपता विहीन भिक्षाजीवी स्वेच्छा से त्याग करनेवाला और अकिंचन हो तथा गृहस्थों में आसक्ति रखनेवाला नहीं हो उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥१०॥

जो ज्ञातिजन और बन्धुजनों का पूर्व सम्बन्ध छोड़ देने के पश्चात् भोग में आसक्त न होवे उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

पसुबन्धा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायन्ति दुस्सीलं, कम्माणि बलवन्ति हि ॥११॥

सभी वेद पशुओं के वध-बन्धन के लिए हैं और यज्ञ पापकर्म का हेतु है । अतः वे वेद अथवा वे यज्ञ (और वे यज्ञ करनेवाले आचार्य आदि) दुराचारी का उद्धार नहीं कर सकते ; क्योंकि कर्म अपना फल देने में अत्यन्त ही बलिष्ठ हैं ।

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥१२॥

केवल सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार बोलने से ही कोई ब्राह्मण नहीं होता, सिर्फ अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं कहलाता और न ही वल्कल धारण करने से कोई तापस होता।

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण उ मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१३॥

समता का गुण प्राप्त करने से श्रमण बना जाता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण बना जाता है, चिन्तन-मनन द्वारा ज्ञानप्राप्ति करने से मुनि बना जाता है और तप करने से तापस बना जाता है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१४॥

मनुष्य ब्राह्मण के कर्मद्वारा ब्राह्मण बनता है, क्षत्रिय के कर्मद्वारा क्षत्रिय बनता है, वैश्य के कर्मद्वारा वैश्य बनता है और शूद्र के कर्मद्वारा शूद्र बनता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणत्व आदि जन्मसिद्ध वस्तु नहीं है, अपितु कर्मसिद्ध वस्तु है।

एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥१५॥

इस धर्म को सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है, जिससे कि यह जीव स्नातक हो जाता है और सर्व कर्मों से मुक्त हो जाता है। उसीको
कहते हैं।

एव गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा ।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥१६॥
[उत्त अ २५, गा २ से ३५]

जो ऐसे गुणों से युक्त है वे द्विजोत्तम है और वे ही स्व-पर का उद्धार करने मे समर्थ होते है ।

—::—

धारा ४२

वीर्य और वीरता

दुहा चेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चई ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई ॥१॥

[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० १]

वीर्य दो प्रकार का कहा गया है। (यह विचार सुनकर मुमुक्षु प्रश्न करता है कि हे पूज्य !) वीर पुरुष की वीरता क्या है ? और किस कारण से वह वीर कहलाता है ? (यह कृपा करके बतलाइए।)

कम्ममेगे पवेदेन्ति, अकम्मं वा वि सुव्वया ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दीसन्ति मच्चिया ॥२॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० २]

(प्रत्युत्तर में भगवान् कहते हैं) हे सुव्रती ! कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। मृत्युलोक के सभी प्राणी इन दो भेदों में विभक्त हैं।

विवेचन—वीर्य आत्मा का मूल गुण है, किन्तु उसका स्फुरण जिस अवस्था में होता है उसके आधार पर उसके दो भेद कहे गये हैं—सकर्मवीर्य और अकर्मवीर्य। आत्मा कर्मजन्य औदयिक भाव में रहता हो तब जो वीर्य का स्फुरण होता है वह सकर्म अवस्था

बालवीर्य कहलाता है और जब क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक भाव में रहता हो तब जो स्फुरण होता है वह अकर्म अथवा पण्डितवीर्य कहलाता है। मनुष्य में इन दोनों में से एक वीर्य का स्फुरण अवश्य होता है।

सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं ।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥१॥
[सू. श्रु. १ अ. ८, गा. ४]

कुछ व्यक्ति शस्त्रविद्या सीख कर प्राणियों की हिंसा करते हैं, तो कुछ व्यक्ति मन्त्रादि बोलकर यज्ञादि अनुष्ठानों में प्राणियों की विडम्बना करते हैं (इसे बालवीर्य समझना चाहिये)।

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥२॥
[सू. श्रु. १ अ. ८, गा. ५]

कपट करने ही सुख का विचार करनेवाले मायावी पुरुष माया-कपट का आधार लेकर काम-भोग के निमित्त असंख्य प्राणियों की हिंसा करते हैं और इस तरह वे उनका हनन करनेवाले छेदन करनेवाले तथा पाप लगानेवाले बनते हैं।

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो ।
आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया ॥३॥
[सू. श्रु. १ अ. ८, गा. ६]

असंयमी पुरुष काया से असक्त होने पर भी मन, वचन और काया से अपने लिये तथा दूसरों के लिये हिंसा करता है और करवाता है।

एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो अकम्मवीरियं पण्डियाणं सुणेह मे ॥६॥
[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० ९]

इस प्रकार बाल जीवों के सकर्मवीर्य का वर्णन किया। अब पण्डितों के अकर्मवीर्य का वर्णन करता हूँ वह मुझसे सुनो।

दविए बंधणुम्मुक्के सव्वओ छिन्नबंधणे।
पणोल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कन्तइ अन्तसो ॥७॥
[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० १०]

भव्य पुरुष राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त होते हैं, कषायरूपी बन्धनों का सर्वथा उच्छेदन कर देते हैं तथा सभी प्रकार के पाप-कर्मों से निवृत्त होकर अपनी आत्मा से लगे हुए कर्मों को जड़ मूल से उखाड़ डालते हैं।

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं असुहत्तं तहा तहा ॥८॥
[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ११]

तीर्थङ्करों द्वारा कथित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी मोक्षमार्ग को ग्रहण कर उसमें पूर्णरूप से पुरुषार्थ को स्फुरित करना चाहिये। (यही पण्डितवीर्य है और इसका परिणाम सुखदायी है जब कि) बालवीर्य पुनः पुनः दुःखदायी है। वह जैसे-जैसे स्फुरित होता जाता है वैसे-वैसे दुःख बढ़ता जाता है।

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्सन्ति ण संसओ ।
अणियए अय वास, णायएहि सुहीहि य ॥९॥
एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धर ।
आरिय उवसपज्जे, सव्वधम्ममकोविय ॥१०॥
[सू० सु १ अ ८, गा ११-१३]

यह निर्विवाद सत्य है कि विविध स्थानों मे रहे हुए मनुष्य किसी न किसी समय अपना स्थान अवश्य छोड़ेंगे । ज्ञाति और मित्रजनों के साथ का यह निवास अनित्य है । इस तरह का विचार कर पण्डित पुरुष आत्मा के ममत्वभाव का छेदन कर देवे तथा सर्व धर्मों से अनिन्द्य ऐसे आर्यधर्म को ग्रहण करे ।

सह सम्मइए णच्चा, धम्मसार सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिए उ अणगार, पच्चक्खायपावए ॥११॥
[सू० सु १ अ ८ उ १ गा १४]

अपनी बुद्धि से अथवा गुरु आदि के मुख से धर्म का सार जानने के बाद पण्डित पुरुष संयम धारता है और सर्व पापो का प्रत्याख्यान करता है ।

अणु माण च माय च, तं पडिन्नाय पडिए ।
आयतट्ठ सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं ॥१२॥
[सू० सु १ अ ८, गा० १८]

माया और मान का फल हमेशा बुरा होता है—ऐसा मानकर पण्डित पुरुष उसका अणुमात्र भी सेवन न करे । यह आत्मार्थ को अच्छी तरह ग्रहण करे । यही वीर पुरुष की वीरता है ।

अतिकम्म ति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दन्ते, आयाणं सुसमाहरे ॥१३॥
[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० २०]

तथा वीर वाणी से और मन से भी किसी प्राणी की हिंसा न करे। वह सर्वथा संयमी बने अपनी इन्द्रियों को जीते तथा सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग के साधनों को ग्रहण करे।

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं नाणुजाणन्ति, आयगुत्ता जिइन्दिया ॥१४॥
[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० २१]

जो पुरुष आत्मगुप्त और जितेन्द्रिय हैं वे किसी के द्वारा किये गये करते हुए अथवा भविष्य में किये जानेवाले किसी प्रकार के पाप की अनुमोदना न करे।

पण्डिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं
धुणे पुव्वकडं कम्मं, नवं वाऽवि न कुव्वती ॥१५॥
[सू० श्रु० १ अ० १५ गा० २२]

पण्डित पुरुष कर्मों का उन्मूलन करने में समर्थ ऐसे वीर्य को प्राप्त करके नवीन कर्म न करे तथा पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर दे।

जे अबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि परक्कन्तं, सफलं होइ सव्वसो ॥१६॥
[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० २२]

सम्यग्दर्शन से रहित और परमार्थ को नहीं समझनेवाले ऐसे मिथ्या-यशस्वी वीर पुरुषों का पराक्रम अशुद्ध है। वे सभी तरह से संसार की वृद्धि करने में सफल होते हैं। साराश यह कि उनसे संसार अधिक बढ़ जाता है। ५

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥१७॥
[सू श्रु १ अ ८, गा २३]

सम्यग्दर्शनवाले और परमार्थ के ज्ञाता ऐसे विशुद्ध यशवाले वीर पुरुषों का पराक्रम शुद्ध है। वे संसार की वृद्धि मे सर्वथा निष्फल होते हैं। साराश यह कि किसी भी तरह उनके संसार की वृद्धि नहीं होती।

दुज्जए अपराजिए जहा,
अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय नो कलिं,
नो तीयं नो चेव दावरं ॥१८॥

एवं लोगम्मि ताइणा,
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं,
कडमिव सेसऽवहाय पण्डिए ॥१९॥
[सू श्रु १ अ २ उ २ गा २३-२४]

जुए में कुशल जुआरी खेलते समय जैसे 'कृत' नामवाले पासे को ही ग्रहण करता है, किन्तु 'कलि' 'त्रेता' अथवा 'द्वापर' को ग्रहण नहीं करता और अपराजित रहता है वैसे ही पण्डित पुरुष भी इस लोक में जगत्त्राता सर्वज्ञों ने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है उसको ही अपने हित के लिए ग्रहण करे। शेष सभी धर्मों को वह इस प्रकार छोड़ दे जिस तरह कुशल जुआरी 'कृत' के अतिरिक्त अन्य सभी पासों को छोड़ देता है।

झाणजोगं समाहट्टु,
कायं विउसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्खं परमं नच्चा,
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२॥

[सू० श्रु० १ अ० ८, गा० २६]

पण्डित पुरुष ध्यानयोग को ग्रहण करे देह-भावना का सर्वथा विसर्जन करे, तितिक्षा को उत्तम समझे और शरीर के अन्त तक संयम का पालन करता रहे।

—०—

धारा ३३

सम्यक्त्व

निस्सग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीयरुइमेव ।
अभिगम वित्थाररुई, किरिया-संखेव धम्मरुई ॥१॥

[उत्त अ २८, गा १६]

(१) किसी को स्वाभाविक रूप से ही तत्त्व के प्रति रुचि होने से (२) किसी को उपदेश श्रवण करने से (३) किसी को भगवान् की ऐसी आज्ञा है ऐसा ज्ञात होने से, (४) किसी को सूत्र सुनने से (५) किसी को एक शब्द सुनकर उसका विस्तार करनेवाली बुद्धि से (६) किसी को विशिष्ट ज्ञान होने से, (७) किसी को विस्तार पूर्वक धर्म श्रवण करने से (८) किसी को सत्क्रियाओं के प्रति रुचि होने से, (९) किसी को संक्षेप में रहस्य ज्ञात हो जाने से तो (१०) किसी को धर्म के प्रति अभिरुचि होने से यों दस प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

विवेचन—सम्यक्त्व का सामान्य परिचय आठवीं धारा में दिया है। यहाँ उसका विशेष परिचय दिया गया है।

निस्संकिय-निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥२॥
[उत्त अ २८, गा ३१]

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग इस प्रकार समझने चाहिये :—
(१) निश्शङ्कित (२) निष्काङ्क्षित (३) निर्विचिकित्स्य (४) अमूढदृष्टि, (५) उपबृंहणा (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

विवेचन—(१) जिनवचन मे शङ्का नही रखना यह निश्शङ्कित, (२) जिनमत के बिना अन्य मत की आकांक्षा नही करना, यह निष्काङ्क्षित, (३) धर्म-कर्म के फल मे सन्देह नही रखना यह निर्विचिकित्स्य (४) अन्य मतवालों के दिखावे मे न आना यह अमूढदृष्टि, (५) सम्यक्त्वधारी को उत्तेजन देना, यह उपबृंहणा, (६) कोई सम्यक्त्व से विचलित होता हो तो उसे स्थिर करना यह स्थिरीकरण (७) साधर्मिक के प्रति वात्सल्य दिखाना अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रकार से भक्ति करना यह साधर्मिक वात्सल्य और (८) जिनशासन की प्रभावना हो अर्थात् लोगों मे उसका प्रभाव बढे, ऐसे कर्म करना यह प्रभावना।

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥३॥
[उत्त अ ३६ गा० २५८]

जो लोग मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त है सासारिक फल की अपेक्षा रखते हुए धर्मकर्म मे प्रवृत्त होते है तथा हिंसक है, वे इन्ही भावनाओं

में मरने पर दुर्लभबोधि होते हैं अर्थात् उन्हें सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति शीघ्र नहीं होती।

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥४॥

[सू० श्रु० १, अ० १५ गा० १८]

जो जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मरता है उसे पुनः धर्मबोधि प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। साथ ही सम्यक्त्वप्राप्ति के योग्य अन्तःकरण के परिणाम होना अथवा धर्माचरण की वृत्ति होना भी कठिन है।

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥५॥

[उत्त० अ० २३, गा० ६३]

कुप्रवचन को माननेवाले सभी लोग उन्मार्ग में स्थित हैं। सन्मार्ग तो जिन भाषित है और यही उत्तम मार्ग है।

सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥६॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २५८]

जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त हैं, सांसारिक फल की अपेक्षा किये बिना धर्मकर्म करनेवाले हैं तथा शुक्ल लेश्या से युक्त हैं वे जीव इसी भावना से मरकर परलोक में सुलभबोधि होते हैं अर्थात् उन्हें सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति शीघ्र होती है।

निस्संकिय–निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥२॥
[उत्त० अ० २८, गा० ३१]

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग इस प्रकार समझने चाहिये :—
(१) निःशङ्कित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्स्य (४) अमूढदृष्टि, (५) उपबृंहण (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

विवेचन—(१) जिनवचन में शङ्का नहीं रखना यह निःशङ्कित, (२) जिनमत के बिना अन्य मत की आकांक्षा नहीं करना, यह निःकांक्षित (३) धर्म-कर्म के फल में सन्देह नहीं रखना यह निर्विचिकित्स्य (४) अन्य मतवालों के दिखावे में न आना यह अमूढदृष्टि, (५) सम्यक्त्वधारी को उत्तेजन देना यह उपबृंहणा, (६) कोई सम्यक्त्व से विचलित होता हो तो उसे स्थिर करना, यह स्थिरीकरण, (७) सार्धमिक के प्रति वात्सल्य दिखाना अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रकार से भक्ति करना, यह सार्धमिक-वात्सल्य और (८) जिनशासन की प्रभावना हो अर्थात् लोगों में उसका प्रभाव बढ़े, ऐसे कर्म करना यह प्रभावना।

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥३॥
[उत्त० अ० ३६ गा० २५८]

जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त हैं सांसारिक फल की अपेक्षा रखते हुए धर्मकर्म में प्रवृत्त होते हैं तथा हिंसक हैं, वे ऐसी भावनाओं

में मरने पर दुर्लभबोधि होते हैं अर्थात् उन्हें सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति शीघ्र नहीं होती।

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥४॥

[सू. श्रु. १ अ. १५ गा. १८]

जो जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मरता है उसे पुनः धर्मबोधि प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। साथ ही सम्यक्त्वप्राप्ति के योग्य अन्तःकरण के परिणाम होना अथवा धर्माचरण की वृत्ति होना भी कठिन है।

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥५॥

[उत्त. अ. २३ गा. ६३]

कुप्रवचन को माननेवाले सभी लोग उन्मार्ग में स्थित हैं। सन्मार्ग तो जिन-भाषित है और यही उत्तम मार्ग है।

सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥६॥

[उत्त. अ. ३६ गा. २५८]

जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त हैं सांसारिक फल की अपेक्षा किये बिना धर्म-कर्म करनेवाले हैं तथा शुक्ल लेश्या से युक्त हैं वे जीव उसी भावना में मरकर परलोक में सुलभबोधि होते हैं अर्थात् उन्हें सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति शीघ्र होती है।

धारा ३४

षडावश्यक

अनुयोगद्वार—सूत्र में कहा है :—

आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुव निग्गहो विसोही य।
अज्झयणछक्कवग्गो नाओ आराहणा मग्गो॥

आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुव निग्रह, विशोधि अध्ययन षट्वर्ग न्याय, आराधना और मार्ग ये पर्यायवाचक हैं।

आवश्यक के अर्थ के सम्बन्ध में उसमें कहा है कि :—

समणेण सावएण य अवस्स-कायव्वं हवइ जम्हा।
अन्तो अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥

जो दिन और रात्रि के अन्तिम भाग में श्रमण तथा श्रावकों द्वारा अवश्य करने योग्य है इसलिये यह आवश्यक कहलाता है।

वर्तमान में इस क्रिया को प्रतिक्रमण नाम से पहचानने का प्रचलन है। दिन के अन्तिम भाग में जो प्रतिक्रमण किया जाय वह दैवसिक (देवसिय) प्रतिक्रमण और रात्रि के अन्तभाग में किया जाय वह रात्रिक (राइय) प्रतिक्रमण कहलाता है। इनके अति-

रिक्त पक्ष के अन्त में चातुर्मास के अन्त में और संवत्सर के अन्त में भी प्रतिक्रमण की क्रिया की जाती है उसे क्रमशः पाक्षिक-प्रतिक्रमण चातुर्मासिक प्रतिक्रमण और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहा जाता है।

आवश्यक क्रिया के सम्बन्ध में अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उसमें बताया गया है कि :—

'आवस्सयस्स एसो पिण्डत्थो वण्णिओ समासेण।

एत्तो एक्केक्कं पुण अज्झयणं कित्तइस्सामि॥

तं जहा—(१) सामाइयं (२) चउवीसत्थओ (३) वंदणयं (४) पडिक्कमणं (५) काउस्सग्गो (६) पच्चक्खाणं।

आवश्यक का यह समुदायार्थ संक्षेप मे कहा है। अब उसमें से एक-एक अध्ययन का मैं वर्णन करूंगा जो इस प्रकार है :—
(१) सामायिक (२) चतुर्विंशति-स्तव (३) वन्दनक (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान। तात्पर्य यह है कि आवश्यक क्रियाएँ छः प्रकार की हैं जिनमें से प्रत्येक का नाम इस प्रकार समझना चाहिए।

सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ॥१॥

[उत्त अ २९ गा ८]

प्रश्न—हे भगवन्! सामायिक से जीव क्या उपार्जन करता है?

उत्तर—हे शिष्य! सामायिक से जीव सावद्ययोग की निवृत्ति का उपार्जन करता है।

विवेचन—सावद्ययोग अर्थात् पापकारी प्रवृत्ति। उसकी निवृत्ति अर्थात् उससे विराम पा लेना। तात्पर्य यह है कि कोई भी जीव सामायिक की क्रिया अंगीकार करता है तब 'मैं मन-वचन-काया से कोई पाप नहीं करूंगा अथवा दूसरे से नहीं कराऊंगा' ऐसी प्रतिज्ञा लेता है और तदनुसार सामायिक के बीच कोई भी पापकारी प्रवृत्ति नहीं करता है। उस समय वह धर्मध्यानादि शुभ प्रवृत्ति ही करता है। एक सामायिक की अवधि दो घड़ी अर्थात् अड़तालिस मिनट की होती है।

> चउवीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
>
> चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥२॥
>
> [उत्त० अ २६, गा ९]

प्रश्न—हे भगवन् ! चतुर्विंशति-स्तव से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! चतुर्विंशति-स्तव से जीव दर्शन विशुद्धि का उपार्जन करता है।

विवेचन—दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यक्त्व की निर्मलता। तात्पर्य यह है कि चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का सद्गुण कीर्तन भजन करने से सम्यक्त्व में रही हुई अशुद्धि दूर हो जाती है और देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा दृढ़ होती है।

अन्य स्तवन स्तुति तथा स्तोत्र आदि से श्रीजिनेश्वर देव की जो भक्ति की जाती है उसका फल भी यह समझना चाहिये।

वंदणएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
वंदणएण नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं
कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं
आणाफलं निव्वत्तेइ । दाहिणभावं च णं जणयइ ॥३॥

[उत्त अ २९ गा १]

प्रश्न—हे भगवन् ! वन्दनक से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! वन्दनक से जीव नीचगोत्रकर्म का क्षय कर उच्चगोत्र के लिए कर्म बाँधता है। साथ ही वह अप्रतिहत सौभाग्य और उच्च अधिकार प्राप्त कर विनयक्षम बनता है।

विवेचन—गुरु को विधिपूर्वक वन्दन करना यह वन्दनक नाम का तीसरा आवश्यक है। गुरु के प्रति विनय किये बिना अथवा उनके प्रति अत्यन्त आदर-सम्मान की भावना रखे बिना आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त नहीं होता। उन्हें प्रतिदिन प्रातः और साय विधिपूर्वक वन्दन करने से ऊपर दिखलाये हैं वैसे लाभ प्राप्त होते हैं।

पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ । पिहिय-वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिये विहरइ ॥४॥

[उत्त अ २९ गा ११]

प्रश्न—हे भगवन् ! प्रतिक्रमण से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों को बंद करता

है और इस तरह व्रतों के छिद्रों को ढकने से वह जीव आस्रव रोकने वाला होता है। साथ ही शुद्ध चारित्रवान् और अष्टप्रवचन-माता के प्रति उपयोगवाला बनता है तथा समाधिपूर्वक संयममार्ग में विचरण करता है।

विवेचन—अज्ञान, मोह अथवा प्रमादवश अपने मूल-स्वभाव से दूर गए किसी जीव का अपने मूलस्वभाव की ओर पुनः लौटने की प्रवृत्ति प्रतिक्रमण कहलाती है। यह एक प्रकार की आत्मनिरीक्षण अथवा आत्मशोधन की क्रिया है। क्योंकि इस क्रिया में आत्मा द्वारा की गई प्रत्येक प्रवृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी त्रुटियाँ ढूँढ निकालने का लक्ष्य होता है और उनके लिये पाप-जुगुप्सापूर्वक पश्चात्ताप किया जाता है। जो त्रुटियाँ सिर्फ पश्चात्ताप से सुधरें ऐसी न हों उनके लिये प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। जैसे घर को प्रतिदिन शुद्ध-स्वच्छ रखने से वह रहने योग्य बनता है वैसे ही आत्मा को प्रतिदिन शुद्ध-स्वच्छ करने से व्रतों की आराधना बराबर होती है और उससे चारित्र उत्तम प्रकार का बनता है।

काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ ॥५॥

[उत्त० अ० २६ गा० १२]

प्रश्न—हे भगवन् ! कायोत्सर्ग से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान

काल के अतिचारों की शुद्धि करता है। प्रायश्चित्त से शुद्ध बना हुआ जीव ऐसे निवृत्त हृदयवाला हो जाता है जैसा कि सिर से बोझा उतार जाने पर कोई भारवाहक। इस प्रकार निवृत्त हृदयवाला बनकर वह प्रशस्त ध्यान को प्राप्त करता हुआ सुखपूर्वक विचरण करता है।

विवेचन—काया का उत्सर्ग करना अर्थात् देहभावना का त्याग करके आत्मनिरीक्षण अथवा आत्मचिन्तन में लीन हो जाना। इसमें एक ही आसन पर मौनपूर्वक स्थिरता से रहा जाता है।

पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुम्भइ। (पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ) ॥६॥

[उत्त० अ० २९ गा० १३]

प्रश्न—हे भगवन्! प्रत्याख्यान से जीव क्या उपार्जन करता है?

उत्तर—हे शिष्य! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव द्वारों को रोक लेता है। (तथा प्रत्याख्यान से जीव इच्छाओं का निरोध करता है। फिर इच्छानिरोध को प्राप्त हुआ जीव सर्व द्रव्यों में तृष्णारहित होकर परम शान्ति में विचरता है।)

—। —

धारा ३५

भावना

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए।
सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥१॥
भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥२॥
भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥३॥

[सू० श्रु० १ अ० १५, गा० ३ से ५]

वीतराग महापुरुषों ने जो-जो भाव कहे हैं वे वास्तव में यथार्थ हैं। जिसका अन्तरात्मा सदा सत्य भावों से पूर्ण है वह सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव रखता है।

किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध नहीं करना यह इन्द्रियों को वश रखनेवाला संयमी पुरुष का धर्म है। ऐसा संयमी पुरुष जगत् का स्वरूप अच्छी तरह समझ ले और धर्म में—धर्मवृद्धि के लिये जीवन का उत्कर्ष साधनेवाली सद्भावनाओं का सेवन करे।

भावना-योग से शुद्ध हुई आत्मा जल पर नौका के समान संसार में तैरती है। जिस तरह अनुकूल पवन का सहारा मिलने से

नौका पार पहुँचती है, उसी तरह ऐसी आत्मा संसार के पार पहुँचती है और वहाँ उसके सर्व दुःखों का अन्त होता है।

से हु चक्खु मणुस्साण, जे कखाए य अंतए।
अन्तेण खुरा वहई, चक्क अन्तेण लोट्टई ॥४॥
अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह ॥५॥
[सू० श्रु० १ अ० १५ गा० १४-१५]

जो मनुष्य (भावना-बल से) भोगेच्छा का—वासना का अन्त करता है वह अन्य मनुष्यों के लिए चक्षुरूप होता है अर्थात् मार्ग-दृष्टा बनता है।

उस्तरा अपने अन्त भाग पर अर्थात् धार पर चलता है। गाड़ी का पहिया भी अपने अन्त भाग पर अर्थात् धार पर चलता है। वैसे ही महापुरुषों का जीवन अन्तिम सत्यों पर चलता है और संसार का अन्त करनेवाला होता है।

जम्म दुक्ख जरा दुक्ख, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥६॥
[उत्त० अ० १९ गा० १५]

जन्म दुःख है जरा भी दुःख है रोग और मृत्यु आदि भी दुःख है। अहो ! यह समस्त संसार दुःखमय है, जिसमें प्राणी बहुत क्लेश पा रहे हैं।

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं,
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥७॥
[उत्त० अ० १९ गा० १२]

यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है और अशुचि से इसकी उत्पत्ति है। एवं यह शरीर दुःख और क्लेशों का भाजन है तथा इसमें जीव का निवास भी अशाश्वत है।

गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा
णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम-थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा ॥८॥

[सू० श्रु० १ अ० ७, गा० १]

कितने जीव गर्भावस्था में कितने जीव दूध पीते बच्चों की अवस्था में तो कितनेक जीव पंचशिख कुमारों की अवस्था में मरण को प्राप्त होते हैं। फिर कितने युवा, प्रौढ़ (अधेड़) और वृद्ध होकर मरते हैं। इस तरह आयुष्य-क्षय होने पर मनुष्य हरेक हालत में अपना देह छोड़ देता है।

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥९॥

[उत्त० अ० १८, गा० १४]

स्त्रियाँ पुत्र, मित्र, और बान्धव सब जीतेजी के साथ ही जीते हैं अर्थात् उसके उपार्जन किये हुए धन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं किन्तु मरे हुए के साथ कोई भी नहीं जाता।

तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से,
चिईगयं दहिय उ पावगेणं।

मआ य पुत्तो वि य नायओ वा,

दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥१०॥

[उत्त० अ० १३ गा० २५]

जीव रहित इस तुच्छ शरीर को चिता में रख कर अग्नि के द्वारा जलाया जाता है। फिर उसकी भार्या पुत्र तथा ज्ञातिजन अन्य दातार के पीछे चल पड़ते हैं।

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,

न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।

एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥११॥

[उत्त० अ० १३ गा० २३]

उसके दुःख का ज्ञातिजन विभाग नहीं कर सकते तथा न मित्र वर्ग न पुत्र और न ही भ्राता आदि कुछ कर सकते हैं किन्तु वह अकेला स्वयमेव उस दुःख का अनुभव करता है क्योंकि कर्ता के पीछे ही कर्म जाता है।

नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।

पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू राय तवं चरे ॥१२॥

[उत्त० अ० १८, गा० १५]

हे राजन्! पुत्रों परम दुःखी होकर मरे हुए पिता को घर से बाहर निकाल देते हैं इसी प्रकार मरे हुए पुत्र को पिता तथा भाई को भाई निकाल देता है। अतः तू तप का आचरण कर।

'बन्धन से मुक्त होना' यह कार्य अपनी आत्मा से ही होता है।

एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगा।

एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥१९॥

[उत्त० अ० १९ गा० ७८]

(विरक्त मनुष्य को ऐसी भावना होनी चाहिये कि) जैसे मृग अरण्य में अकेला ही विचरता है उसी प्रकार मैं भी चारित्ररूप वन में संयम और तप के साथ धर्म का पालन करता हुआ एवं आत्मा को अकेली मानता हुआ विचरण करूँगा।

तं मा णं तुम्भे देवाणुप्पिया,

माणुस्सएसु कामभोगेसु।

सज्जह रज्जह गिज्झह,

मुज्झह अज्झोववज्जह ॥२॥

[ज्ञा० अ० ८]

इसलिये हे देवानुप्रिय ! तू मानुषिक कामभोगों में आसक्त न बन रागी न बन गृद्ध न बन मूर्च्छित न बन और अप्राप्त भोग प्राप्त करने की लालसा भी न कर।

धारा ३६

लेश्या

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥१॥

[उत्त० अ० ३४ गा० ३]

छओं लेश्याओं के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या।

विवेचन—आत्मा का सहज रूप स्फटिक के समान निर्मल है। किन्तु कृष्ण आदि रंगवाले पुद्गलों के सम्बन्ध से उस का जो परिणाम होता है उसको लेश्या कही जाती है। ये लेश्यायें कर्मों की स्थिति का कारण हैं [कर्मस्थितिहेतवो लेश्याः]। तेरहवें गुणस्थानक तक इन लेश्याओं का सद्भाव रहता है और जिस समय यह आत्मा अयोगी बनती है अर्थात् चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करती है उसी समय वह लेश्याओं से रहित हो जाती है।

जीमूयनिद्धसंकासा, गवलरिट्ठगसन्निभा।
खंजंजणनयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥२॥

नीलासोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिद्धसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥३॥

अयसीपुप्फसंकासा, कोइलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा, काउलेसा उ वण्णओ ॥४॥

हिंगुलधाउसंकासा, तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुंडपईवनिभा, तेउलेसा उ वण्णओ ॥५॥

हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसमप्पभा ।
सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥६॥

संखंककुंदसंकासा, खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥७॥

[उत्त० अ० ३४ गा० ४ से ९]

कृष्णलेश्या का वर्ण जलयुक्त मेघ, महिष का शृंग, काक पक्षी, अरिष्ठ, शकट की कीट, काजल और नेत्रतारा के समान कृष्ण होता है।

नीललेश्या का वर्ण नील अशोक वृक्ष, चास पक्षी की पंख और स्निग्ध वैडूर्यमणि के समान नील होता है।

कापोतलेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, कोयल के पर और कबूतर की ग्रीवा (गर्दन) के समान कत्थई (किंचित् कृष्ण और किंचित् रक्त) होता है।

तेजोलेश्या का वर्ण हिंगुल धातु, तरुण सूर्य तोते की चोंच और दीपशिखा के रंग समान रक्त होता है।

पद्मलेश्या का वर्ण हरिताल हल्दी के टुकड़े तथा सण और असन के पुष्प समान पीला होता है।

शुक्ललेश्या का वर्ण शंख अंकरत्न मुचकुन्द पुष्प दुग्धधारा तथा रजत के हार के समान उज्ज्वल-श्वेत होता है।

जह कडुयतुंबगरसो, निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो य किण्हाए नायव्वो ॥८॥

जह तिगडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ नीलाए नायव्वो ॥९॥

जह तरुणअंबगरसो, तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊए नायव्वो ॥१०॥

जह परिणयंबगरसो, पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेओए नायव्वो ॥११॥

वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ ।
महुमेरयस्स व रसो, एत्तो पम्हाए परएण ॥१२॥

खज्जूरमुद्दियरसो खीररसो खंडसक्कररसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥१३॥

[उत्त अ ३४ गा ८ से १३]

जितना कटु रस कड़वे तूंबे, निम्ब और कटुरोहिणी का होता है उससे भी अनन्तगुण अधिक कटु रस कृष्णलेश्या का होता है।

नीललेश्या के रस को त्र्यूषण—मिर्च और सोंठ तथा गजपीपल के रस से भी अनन्तगुण तीक्ष्ण समझना चाहिये।

कापोतलेश्या के रस को कच्चे आम के रस, तुवर और कैथ के रस से भी अनन्तगुण खट्टा समझना चाहिये।

तेजोलेश्या के रस को पके हुए आम्रफल अथवा पके हुए कैथ के रस से भी अनन्तगुण खट्टा-मीठा समझना चाहिये।

पद्मलेश्या के रस को प्रधान मदिरा, नाना प्रकार के आसव तथा मधु और मैरेयक नाम का मदिरा से भी अनन्तगुण मधुर समझना चाहिये।

शुक्ललेश्या के रस को खजूर, दाख, दूध, खांड और शक्कर के रस से भी अनन्तगुण मीठा समझना चाहिये।

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१४॥

जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१५॥

[उत्त० अ० ३४ गा० १६-१७]

जैसी खराब गन्ध मृतक गौ अथवा मरे हुए कुत्ते की अथवा मरे हुए सर्प की होती है उससे भी अनन्तगुण अधिक खराब गन्ध अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

जैसी सुन्दर गन्ध केवड़ा आदि सुगन्धित पुष्पों की अथवा सुगन्ध-युक्त घिसे हुए चन्दनादि पदार्थों की होती है उससे भी अनन्तगुण अधिक सुन्दर गन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए य सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१६॥
जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१७॥

[उत्त अ ३४ गा १८ १९]

जैसा कर्कश स्पर्श आरा गाय की जीभ और सागौन के पत्तों का होता है उनसे अनन्त गुण अधिक कर्कश स्पर्श अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

जैसा कोमल स्पर्श बूर (वनस्पतिविशेष) मक्खन और सिरस के पुष्पों का होता है उनसे अनन्त गुण अधिक कोमल स्पर्श तीनों प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ॥१८॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥१९॥

[उत्त अ ३४ गा २१-२२]

पाँचों आस्रवों में प्रवृत्त तीनों गुप्तियों से अगुप्त, षट्काय की हिंसा में आसक्त उत्कट भावों से हिंसा करनेवाला क्षुद्रबुद्धि बिना

जितना कटु रस कड़वे तूंबे, निम्ब और कटुरोहिणी का होता है उससे भी अनन्तगुण अधिक कटु रस कृष्णलेश्या का होता है।

नीललेश्या के रस को मध मिर्च और सोंठ तथा गजपीपल के रस से भी अनन्तगुण तीक्ष्ण समझना चाहिये।

कापोतलेश्या के रस को कच्चे आम के रस तुवर और कैथ के रस से भी अनन्तगुण खट्टा समझना चाहिये।

तेजोलेश्या के रस को पके हुए आम्ररस अथवा पके हुए कैथ के रस से भी अनन्तगुण खट्टा-मीठा समझना चाहिये।

पद्मलेश्या के रस को प्रधान मदिरा नाना प्रकार के आसव तथा मधु और मैरेयक नाम की मदिरा से भी अनन्तगुण मधुर समझना चाहिये।

शुक्ललेश्या के रस को खजूर, दाख दूध, खांड और शक्कर के रस से भी अनन्तगुण मीठा समझना चाहिये।

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१४॥

जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१५॥

[उत्त अ ३४ गा ११-१७]

जैसी खराब गन्ध मृतक गौ, अथवा मरे हुए कुत्ते की अथवा मरे हुए सर्प की होती है, उससे भी अनन्तगुण अधिक खराब गन्ध अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥२४॥

पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेउलेसं तु परिणमे ॥२५॥

[उत्त अ ३४ गा २७-२८]

नम्रता का बर्ताव करनेवाला, चपलता से रहित, अमायी, अकुतूहली, परम विनयवान्, इन्द्रियों का दमन करनेवाला, स्वाध्याय में रत और उपधान आदि करनेवाला, धर्म में प्रेम और दृढ़ता रखनेवाला, पापभीरु और सबों का हित चाहनेवाला पुरुष तेजोलेश्या के परिणामों से युक्त होता है।

पयणुक्कोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए ।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥२६॥

तहा पयणुवाई य, उवसन्ते जिइन्दिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥२७॥

[उत्त अ ३४ गा २९-३०]

जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त मन्द हैं तथा जो प्रशान्त चित्त और मन का निग्रह करनेवाला है, जो योग में रत और उपधान आदि करनेवाला है, जो अतिअल्पभाषी, उपशान्त और जितेन्द्रिय है — इन लक्षणों से युक्त वह पुरुष पद्मलेश्यावाला होता है।

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥२८॥

सरागो वीयरागो वा, उवसंते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥२९॥

[उत्त० अ० ३४ गा० ३१-३२]

आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों को त्याग कर जो पुरुष धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों का आसेवन करता है तथा प्रशान्तचित्त, दमितेन्द्रिय, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त एवं अल्परागवान् अथवा वीतरागी, उपशमनिमग्न और जितेन्द्रिय है वह शुक्ललेश्या से युक्त होता है।

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥३०॥

[उत्त० अ० ३४ गा० ५६]

कृष्ण, नील और कापोत ये तीनों अधर्मलेश्या हैं। इन लेश्याओं से यह जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥३१॥

[उत्त० अ० ३४ गा० ५७]

तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीनों धर्मलेश्या हैं। इन लेश्याओं से यह जीव सद्गति में उत्पन्न होता है।

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥३२॥
लेसाहिं सव्वाहिं, चरम समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भव अत्थि जीवस्स ॥३३॥
अंतमुहुत्तंमि गए, अंतमुहुत्तमि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥३४॥

[उत्त० अ० ३४ गा ५८-६०]

सर्व लेश्याओं की प्रथम समय में परिणति होने से किसी भी जीव की परलोक में उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् यदि लेश्या को आये हुए एक समय हुआ हो तो उस समय जीव परलोक की यात्रा नहीं करता ।

सर्व लेश्याओं की परिणति में अन्तिम समय पर किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती ।

अन्तमुहूर्त के बीत जाने पर और अन्तमुहूर्त के शेष रहने पर लेश्याओं के परिणत होने से, जीव परलोक में गमन करते हैं ।

तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभावे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥३५॥

[उत्त० अ० ३४ गा ६१]

इसलिए इन लेश्याओं के अनुभाव (रसविशेष) को जानकर साधु अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे ।

मृत्यु

माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं ॥१॥

[औव० सू० ३४]

मनुष्य देह अनित्य (क्षणभंगुर) है तथा व्याधि जरा मरण और वेदना से पूर्ण है।

डहरा वुड्ढा य पासह,
गब्भत्था वि चयन्ति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे,
एवं आउखयम्मि तुट्टई ॥२॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १ गा० २]

देखो—जगत् की ओर दृष्टिपात करो। बालक और वृद्ध सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कई मनुष्य के तो गर्भावस्था में ही अवसान हो जाता है। जैसे बाज पक्षी तितर पर झपट्टा लगा के उसका संहार करता है ठीक वैसे ही आयुष्य का क्षय होने पर मृत्यु मनुष्य पर चोट लगाता है और उसका प्राण हरता है।

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मं सहरा भवन्ति ॥३॥
[उत्त० अ० १३, गा २२]

जैसे इस लोक में सिंह मृग को पकड़ कर ले जाता है उसी प्रकार मृत्यु अन्त समय में मनुष्य को पकड़ कर परलोक में ले जाती है। उस समय उसके माता पिता भ्राता आदि कोई भी सहायक नहीं हो सकते।

इह जीविए राय असासयम्मि,
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंसि लोए ॥४॥
[उ० अ० १३, गा २१]

हे राजन्! इस अशाश्वत जीवन में पुण्य को न करनेवाला जीव मृत्यु के मुख में पहुँचकर शोच करता है और धर्म को न करनेवाला जीव परलोक में जा कर शोच करता है।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥५॥
[उत्त० अ० १४ गा० २७]

जिसकी मृत्यु से मित्रता है, जो मृत्यु से भाग सकता है तथा जिसको यह ज्ञान है कि मैं नहीं मरूँगा, वही कल (आगामी दिवस) की आशा कर सकता है।

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं ॥६॥

[स्था० स्था० ७]

सात कारणों से जीव की अकाल मृत्यु होती है—(१) हार्दिक भावना को आघात पहुँचने से (२) शस्त्रादि का प्रहार होने से (३) ज्यादा आहार करने से (४) वेदना बढ़ जाने से (५) गड्ढा आदि में गिर पड़ने से (६) कोई कठिन वस्तु की सख्त चोट लगने से और (७) श्वासोच्छ्वास का रुँधन होने से।

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च,
जलणं च जलपवेसो य।
अणायारभंडसेवी,
जम्मणमरणाणि बंधंति ॥७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६७]

शस्त्रग्रहण, विष भक्षण, अग्नि में झंपापात और जल में प्रवेश तथा आचार भ्रष्टता आदि के द्वारा जो जीव मृत्यु को प्राप्त करते हैं, वे जन्म-मरण की वृद्धि करते हैं।

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥८॥

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्म पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥६॥
[उत्त अ ५ गा १४-१५]

जैसे कोई एक गाड़ीवान् राजमार्ग को भली प्रकार से जानता हुआ भी उसको छोड़कर विषम मार्ग की ओर चल पड़ा परन्तु उस विषम मार्ग से जाने पर उसके गाड़े की धुरी टूट गई। उसके टूट जाने पर वह शोक करने लगा। इसी प्रकार धर्म को छोड़ और अधर्म को ग्रहण करके, मृत्यु के मुख में पहुँचा हुआ अज्ञानी जीव धुरी के टूट जाने पर गाड़ीवान् की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता है।

सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया ।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥१०॥
बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥११॥
[उत्त अ० ५ गा -३]

मरणान्त के ये दो स्थान (जिन महर्षियों द्वारा) कहा गया है—एक अकाममरण और दूसरा सकाममरण।

अज्ञानियों का अकाममरण अनेक बार होता है किन्तु पण्डितों का सकाममरण तो उत्कर्ष से एक ही बार होता है।

तओ से मरणन्तम्मि, बाले सन्तस्सई भया ।
अकाममरणं मरई, धुत्ते व कलिणा जिए ॥१२॥
, गा १६]

उसके अनन्तर वह अबोध प्राणी मृत्यु के आ जाने पर मय से बहुत त्रास पाता है और एक ही दाव में हार जानेवाले जुआरी की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता हुआ अकाममरण से मरता है।

न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥१३॥
[उत्त० अ ५, गा १९]

यह पण्डितमरण सभी भिक्षुओं को प्राप्त नहीं होता और न सब गृहस्थों को, क्योंकि गृहस्थ नाना प्रकार के नियमोंवाले होते हैं और भिक्षु विषम आचारवाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि पण्डितमरण की प्राप्ति सब को नहीं हो सकती, किसी किसी को ही हो सकती है।

न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥१४॥
[उत्त अ ५, गा २९]

शील-सम्पन्न बहुश्रुत पुरुष मरण के समय त्रास नहीं पाते।

तुलिया विसेसमादाय दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा ॥१५॥
[उत्त अ ५ गा० १]

बुद्धिमान् पुरुष अकाम और सकाम—इन दोनों मृत्युओं को तौल कर इन दो में से विशेष को अर्थात् सकाममरण को ग्रहण करे और क्षमा के द्वारा दयाधर्म को अपनाकर ऐसी उन्नत आत्मा से आत्मा को प्रसन्न करे।

कन्दप्पमाभिओग च, किव्विसिय मोहमासुरत्त च ।
एयाउ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ॥१६॥
[उत्त अ ३६, गा २५६]

कन्दर्प भावना, अभियोग भावना किल्विष भावना मोह-भावना और आसुरत्व-भावना—ये भावनाए दुर्गति की हेतुभूत होने से दुर्गति रूप ही कही जाती है। ये मरण के समय विराधक होती है।

कन्दप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविगहाहिं ।
विम्हावेंतो य पर, कन्दप्प भावणं कुणइ ॥१७॥
[उत्त अ ३६, गा० ११]

जो कन्दर्प कौत्कुच्य शील स्वभाव हास्य और विकथाओं से अन्य आत्माओं में विस्मय उत्पन्न करता है वह कन्दर्प-भावना का आचरण करता है।

विवेचन—कन्दर्प अर्थात् व्यंग से बोलना। कौत्कुच्य अर्थात् दूसरों को हसाने के लिये भ्रू नयन और मुख की चेष्टा करना। शील अर्थात् निरर्थक चेष्टा। स्वभाव अर्थात् विस्मयोत्पादक चेष्टा। हास्य अर्थात् अट्टहास्य। विकथा अर्थात् स्त्री-कथा भक्त-कथा, देस-कथा और राज-कथा।

मता आगं काउ, भूईकम्म च जे पउजति ।
साय-रस इड्ढि हेउ, अभिओग भावण कुणइ ॥१८॥
[उत्त अ ३६, गा २६२]

जो साता रस और ऋद्धि के लिए मंत्र और अभिमंत्रित भस्म का प्रयोग करता है वह अभियोग-भावना का आचरण करता है।

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं।

माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥१९॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६५]

सर्व प्रकार के ज्ञान, केवलज्ञानी, धर्माचार्य, संघ और साधुओं की निन्दा करनेवाला मायावी जीव किल्बिष-भावना का आचरण करता है।

विवेचन—शस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण आदि से मरने का विचार करनेवाला मोह-भावना का आचरण करता है।

अणुबद्धरोसपसरो, तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी।

एएहि कारणेहिं, आसुरियं भावणं कुणइ ॥२०॥

[उत्त० अ० ३६ गा० २६६]

निरन्तर रोष का विस्तार करनेवाला और विना निमित्त का सेवन करनेवाला जीव इन कारणों से आसुरत्व-भावना को उत्पन्न करता है।

बालमरणाणि बहुसो, अकाममरणाणि चेव बहुयाणि।

मरिहिंति ते वराया, जिणवयणं जे न जाणंति ॥२१॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६७]

जो जीव जिन-वचन को नहीं जानते वे बिचारे अनेक बार बालमरण और अकाममरण को प्राप्त होते हैं।

—•—

धारा ३८

परभव

तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छइ उ परं भवं ॥१॥

[उत्त० अ० १८, गा० १७]

उसने—जीव ने शुभ अथवा अशुभ जो भी कर्म किया है, उस कर्म से संयुक्त हुआ वह परलोक को चला जाता है।

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहातण्हाए पीडिओ ॥२॥
एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥३॥
अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥४॥
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥५॥

[उत्त० अ० १९ गा० १९ से २२]

जो कोई पुरुष पाथेय-रहित किसी महान् मार्ग का अनुसरण करता है, वह मार्ग मे चलता हुआ क्षुधा और तृष्णा से पीड़ित हो कर दुःखी होता है।

इसी प्रकार धर्म का आचरण किये बिना जो जीव परलोक में जाता है वह जाता हुआ (वहाँ जा कर) व्याधि और रोगादि से पीड़ित होने पर दुःखी होता है। (यहाँ व्याधि से मानसिक कष्ट और रोग से शारीरिक पीड़ा का ग्रहण करना।)

जो कोई पुरुष पाथेययुक्त हो कर किसी महान् मार्ग का अनुसरण करता है वह मार्ग मे क्षुधा और तृष्णा की बाधा से रहित होता हुआ सुखी होता है।

इसी प्रकार जो जीव धर्म का संचय कर के परलोक को जाता है वह वहाँ जा कर सुखी होता है और असातावेदनीय कर्म अल्प होने से विशेष वेदना को भी प्राप्त नही होता।

इह जीविय अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।

ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काये ॥६॥

[उत्त अ ८, गा १४]

जिन जीवों ने (साधु-वृत्ति को ग्रहण कर के भी) अपने असंयमी जीवन को (बारह प्रकार के तप द्वारा) वश में नही किया वे काम-भोगों के रस में मूर्च्छित होते हुए समाधियोगों से सर्वथा भ्रष्ट होकर असुर-कुमारों मे उत्पन्न होते है।

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,

पावाइ कम्माइ करेन्ति रुद्दा।

जे घोररूवे तमिसन्धयार,
तिब्वाभितावे नरए पडंति ॥७॥
[सू० श्रु० १ अ ५ उ १ गा १]

जो अज्ञानी मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए क्रूर होते हुए पापकर्म करते हैं वे तीव्र दुःख से भरे हुए और अन्धकारमय नरक में गिरते हैं।

मा पच्छ असाधुता भवे,
अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयई,
से थणई परिदेवई बहुं ॥८॥
[सू० श्रु० १ अ २ उ ३ गा ७]

परलोक में दुर्गति की प्राप्ति न हो इस विचार से विषय-संग को दूर करो और आत्मा का अनुशासन करो। दुष्ट कर्मों से दुर्गति में गया हुआ जीव शोक करता है, आक्रंद करता है और बहुत विलाप भी करता है।

जहाऽऽएस समुद्दिस, कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयण जवस देज्जा, पोसेज्जावि सयंगणे ॥९॥
तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे।
पीणिए विउले देहे, आएस परिकखए ॥१०॥

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥११॥
जहा से खलु आरब्भे आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥१२॥
[उत्त० अ० ७, गा० १ से ४]

जैसे कोई पुरुष किसी अतिथि आदि के निमित्त अपने घर में बकरा को पालता है और उसको जौ आदि अच्छे पदार्थ खाने को देता है। बाद में जब वह बकरा पुष्ट सामर्थ्यवान्, चर्बीवाला, बड़ा पेटवाला और स्थूल देहवाला हो जाता है तब पालक अतिथि की प्रतीक्षा करता है।

जब तक घर में अतिथि नहीं आता तब तक वह बकरा जीता है किन्तु अतिथि के आने पर वह दुःखी सिर छेदन करके खाया जाता है।

जिस तरह वह बकरा अतिथि के लिए कल्पित है उसी तरह अधर्मी अधर्मिष्ठ जीव नरकायुष के लिए कल्पित है। तात्पर्य यह कि ऐसा जीव अवश्य नरक में जाता है।

हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणम्मि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं नु हरे सढे ॥१३॥
इत्थीविसयगिद्धे य, महारम्भपरिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥१४॥

अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए ।
आउय नरक कंख, जहाऽऽएस व एलए ॥१५॥

[उत्त० अ० ७, गा० ५ से ७]

जो अज्ञानी हिंसा करनेवाला झूठ बोलनेवाला मार्ग में लूटने-वाला बिना दिये किसी की वस्तु उठानेवाला चोरी करनेवाला छल-कपट करनेवाला और किसकी चोरी करूं ऐसा दुष्ट विचार करनेवाला, फिर स्त्री और विषयों में आसक्त, महान् आरम्भ और परिग्रह करने वाला मदिरा तथा मांस का सेवन करनेवाला बलवान होकर दूसरों को दबानेवाला तथा भुने हुए चने की तरह बकरे का मांस खानेवाला बड़े पेटवाला और पुष्ट शरीरवाला है वह नरकायु की आकांक्षा करता है जिस तरह पोषा हुआ बकरा अतिथि की। तात्पर्य यह कि उसकी दुर्गति निश्चित है।

आसण सयण जाण, वित्त कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धण हिच्चा, बहुं संचिणिया रय ॥१६॥
तओ कम्मगुरू जंतु, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई ॥१७॥

[उत्त० अ० ७ गा० ८-९]

जिसने विविध प्रकार के आसन शय्या और वाहन का उपभोग किया है एवं संपत्ति और शब्दादि विषयों को अच्छी तरह भोग किया है वह बहुत कर्म-रज का संचय करके और अति कष्ट से एकत्रित किया हुआ धन इधर छोड़ के मरण के समय ऐसा शोक-

संताप करता है जैसा कि अतिथि के लिए पोषा हुआ बकरा मरने के समय में।

तओ आउपरिक्खीणे, चुयदेहा विहिंसगा।
आसुरियं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं ॥१८॥

[उत्त० अ० ७, गा० १०]

अनन्तर वे हिंसादि में प्रवृत्ति रखनेवाले अज्ञानी जीव आयु के क्षय होने से शरीर को छोड़ कर कर्मों के अधीन होते हुए अन्धकार युक्त नरक दिशा-नरक गति को प्राप्त होते हैं।

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥१९॥
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥२०॥
अणेगवासानउया, जा सा पण्णवओ ठिई।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥२१॥

[उत्त० अ० ७, गा० ११ से १३]

जैसे एक काकिणी* के लिए कोई अज्ञानी मनुष्य हजार (कार्षापण+) को खो देता है और अपथ्यरूप आम्र के फल को खाकर राजा राज्य (प्राण) को खो देता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव थोड़े से विषयरूप सुखों के निमित्त देवलोक के महान् सुख को खो देता है।

---

* काकिणी = १ [illegible]। + भारत का एक पुराना सिक्का।

ऐसे मनुष्यों को समझना चाहिये कि मनुष्यिक काम-भोग देवों के काम भोगों के सामने सहस्रगुण अधिक करने पर भी न्यून हैं तथा देवों की आयु और उनके काम भोग दिव्य हैं।

प्रज्ञावान् अर्थात् ज्ञान क्रिया आराधक आत्मा मृत्यु के बाद देव लोक में जाता है और वहाँ उनकी स्थिति अनेक नयुत वर्षों तक अर्थात् अमुक पल्योपम या सागरोपम तक होती है। उसको मूर्ख मनुष्य कुछ कम सौ वर्ष की आयु में विषयभोगों के वशीभूत होकर हार देते हैं।

विवेचन—काकिणी और आम्रफल के दृष्टान्त उत्तराध्ययन सूत्र की बृहद्वृत्ति से देखना चाहिये।

जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥२२॥
एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥२३॥

[उत्त अ ७, गा १४-१५]

किसी समय में तीन व्यापारी अपनी-अपनी मूल पूंजी को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश में गए। उन तीनों में से एक को तो व्यापार में लाभ हुआ दूसरा अपनी मूल पूँजी को कायम रखता हुआ घर को आ गया और तीसरा मूलधन को भी खो करके घर आ गया। यह जैसे व्यावहारिक उपमा है, उसी प्रकार धर्म के विषय में भी समझना।

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥२४॥
[उत्त० अ० ७, गा० १६]

मनुष्यत्व यह मूल धन है और लाभ के समान देवत्व की प्राप्ति है। अतः मूल के नाश होने से इन जीवों को नरकगति और तिर्यंच गति की ही प्राप्ति होती है।

दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया ।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे ॥२५॥
तओ जिए सई होइ, दुविहं दुग्गइं गए ।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥२६॥
[उत्त० अ० ७, गा० १७-१८]

देवत्व और मनुष्यत्व को हार जानेवाले धूर्त और मांसलोलुप बाल अज्ञानी जीव को नरक और तिर्यञ्च ये दो गतियाँ होती हैं। इनमें से एक कष्टमूलक और दूसरी वधमूलक है।

एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पण्डियं ।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ॥२७॥
[उत्त० अ० ७ गा० १९]

इस प्रकार हारे हुए को देखकर बाल और पण्डित भाव को अपनी बुद्धि से तौलकर जो प्राणी मूल धन में प्रवेश करते हैं अर्थात् मूल धन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं वे मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं।

पेमायाहि सिक्खाहि, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेन्ति माणुस जोणि, कम्मसचा हु पाणियो ॥२८॥
[उत्त अ ७, गा० २]

जो मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षा द्वारा गृहस्थ-जीवन में भी सुव्रती है, वे मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं। निश्चय ही कर्म सत्य है अर्थात् जैसे वे किये जाते हैं, वैसे ही फल देते हैं।

जेसि तु विउला सिक्खा, मूलं ते अइच्छिया ।
सीलवन्ता सविसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ॥२९॥
[उत्त० अ ७, गा २१]

जिन जीवों की शिक्षाएं अधिक विस्तृत हो गई हैं और जो सदाचारी विशेष गुणों से युक्त और दीनता से रहित हैं वे मूल धन का अतिक्रमण करते हुए देवलोक में चले जाते हैं।

अगारि सामाइयगाइ, सड्ढी काएण फासए ।
पोसह दुहओ पक्खं, एगराय न हावए ॥३०॥
एवं सिक्खा समावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥३१॥
[उत्त अ० ५ गा २३-२४]

श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के अंगों का सेवन करे, दोनों पक्षों में पौषध करे, परन्तु एक रात्रि तो कभी भी हीन न करे; अर्थात् एक मास में एक रात्रि भर तो संवरत्व से धर्मजागरण अवश्य करे।

इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोड़कर यक्षलोक अर्थात् देवलोक में चला जाता है।

गार पि अ आवसे नरे,
अणुपुर्व्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाण गच्छे स लोगयं ॥१२॥
[सू० श्रु० १ अ० २ उ० ३, गा० १३]

गृहस्थ भी घर में बसता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार प्राणियों की दया पाले सर्वत्र समता धारण करे, नित्य अर्हत्-प्रवचन को सुने तो वह मृत्यु बाद देवलोक में उत्पन्न होता है।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउ पुराकाउ, जोगक्खेमं न संविद ॥१३॥
[उत्त० अ० ७ गा० २४]

ये काम भोग कुश के अग्र भाग पर रहे हुए जलबिन्दु के समान है और आयु अत्यन्त संक्षिप्त है। तो फिर किस हेतु को आगे रखकर तुम योगक्षेम को नहीं जानते ?

विवेचन—अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त हुए का पालन करना क्षेम कहलाता है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की समृद्धि और आयु बहुत ही स्वल्प है। इस स्वल्प समृद्धि और आयु में उसे जो धर्म की प्राप्ति हुई है तथा उस धर्म से जो स्वर्ग

और मोक्षसुख की आशा है उस धर्म की ओर अवश्य दृष्टि रखनी चाहिये।

पच्छा वि ते पयाया,
खिप्प गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जसि पिया तवो संजमा,
य खन्ती य बंभचेरं च ॥३४॥
[दश अ ४ गा २८]

जिन पुरुषों को तप संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है वे पिछली अवस्था में भी दीक्षित हो जाने पर (तथा संयम-मार्ग में न्यायपूर्वक चलने से) शीघ्र ही देवलोक में चले जाते हैं।

अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए ॥३५॥
[उत्त अ ५ गा २५]

जो संवरयुक्त भिक्षु है वह दो में से एक गति को अवश्य प्राप्त हो जाता है। वह सर्व दुःख से रहित सिद्ध होता है अन्यथा महा-ऋद्धि वाला देव बनता है।

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायई ॥३६॥
[उत्त अ ३, गा० १]

देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर वह पुण्यात्मा जीव मानव-कुल में

उत्पन्न होता है कि जहाँ पर ऋद्धि द्युति यश, वर्ण, आयु और अनुत्तर सुख होते हैं।

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जइ ॥२७॥
[सू० श्रु० १ अ० १५ गा० ७]

जो आत्मगुप्त होकर सावद्य प्रवृत्ति नहीं करता है उसको नया कर्मबन्धन नहीं होता है। फिर वह कर्मनिर्जरा का स्वरूप अच्छी तरह जानता है और जान के ऐसा पराक्रम करता है कि उस महावीर पुरुष को इस संसार में न तो पुनः जन्म धारण करना पड़ता है और न तो पुनः मरना पड़ता है।

धारा ३६

नरक की वेदना

नेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता नेरइएसु उववज्जन्ति, तं जहा-महारम्भयाए महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं ॥ १ ॥

[औप सू ३४]

नारक योग्य कर्म कर के जीव नरक में उत्पन्न होते हैं। जैसे कि—महान् हिंसा करने से महान् परिग्रह धारण करने से पंचेन्द्रिय जीवों के वध करने से और मांस भक्षण करने से।

विवेचन—नरक का स्थान मध्यलोक के नीचे माना गया है। वह सात प्रकार का है—पहला, दूसरा यावत् सातवाँ। जिसकी उत्पत्ति नरक में होती है उसको नारक कहते हैं।

जारिसा माणुसे लोए, ताया ! दीसन्ति वेयणा।
एत्तो अणन्तगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा ॥२॥

[उत्त० अ० १९ गा० ७४]

(मृगापुत्र कहता है) हे पिता! जिस प्रकार की वेदनाएँ मनुष्य-लोक में देखी जाती हैं उनसे अनन्तगुनी अधिक दुःख-वेदनाएँ नरकों में अनुभव करने में आती हैं।

अच्छिनिमीलियमेत्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं ।
नरए नेरइयाणं, अहोनिस पच्चमाणाणं ॥३॥
[जीवा० प्रति १ ऊ २, सू ४५]

(यमदूत जैसे परमाधामीयों के द्वारा) रात दिन सताये जाते नारकीय जीवों को नरक में आँख बन्द कर खोलने जितना समय लगता है उतने समय भी सुख नहीं मिलता। वे निरन्तर दुःखों से पीड़ित होते हैं।

अतिसीतं अतिउण्हं,
अतितण्हा अतिक्खुहा अतिमय वा ।
निरए नेरइयाण,
दुक्खसयाइं अविस्साम ॥ ४ ॥
[जीवा प्रति १, ऊ १, सू० ४५]

नारकीय जीवों को नरक में अत्यन्त ठंड अत्यन्त गरमी अत्यन्त प्यास और अत्यन्त भूख ऐसे कई प्रकार के दुःख एक के बाद एक भोगना पड़ता है।

जहा इह अगणी उण्हा, इत्तोऽणतगुणो तहिं ॥५॥
[उत्त० अ १६ गा० ४८]

जैसे इस लोक में अग्नि का उष्ण स्पर्श अनुभव किया जाता है, इससे अनन्तगुनी अधिक उष्णता का अनुभव वहाँ (नरक में) किया जाता है।

जहा इह इमं सीयं, इत्तोऽणंतगुणे तहिं ।।६।।

[उत्त० अ० १६ गा० ४८]

जैसे इस लोक में यह शीत प्रत्यक्ष पड़ रहा है इससे अनन्तगुणा अधिक शीत वहाँ पर (नरक में) पड़ता है।

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,
तिक्खाहिं सूलाहिऽभितावयंति ।।७।।

[सू० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गा० २२]

परमाधामी नरक में उत्पन्न हुए जीवों के नाक दोनों भी कान तथा होंठ छुरा से काट लेते हैं और जीभ को मुख से एक बित्ता जितनी बाहर खींच उसमें तीक्ष्ण काँटें पिरो के परिताप उपजाते हैं।

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणियपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ।।८।।

[सू० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गा० २३]

उनके कटे हुए नाक कान और होंठो से निरन्तर रक्त बहता रहता है और पवन का झोंक आने से सूखे तालपत्रों का समूह जिस तरह खड़खड़ाहट करता है ठीक वैसी ही तरह पीड़ा पानेवाले वे नारकीय

भस्मसात् नहीं होते हैं। फिर जो भयंकर ताड़न-तर्जन किया जाता है इससे भी वे मरते नहीं हैं। किन्तु अपने दुष्ट कर्मों का फल भोगने के लिए वे दुःखित जीव नियत समय तक दुःख भोगते ही रहते हैं।

ते णं तत्थ णिच्चं भीता णिच्चं तसिता णिच्चं छुहिया णिच्चं उव्विग्गा णिच्चं उपप्लुआ णिच्चं वहिया णिच्चं परममसुभमउलमणुबद्धं निरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥११॥

[जीवा० प्रति ३ उ ३, सू ८९]

वे नरक के जीव सदा भयभीत त्रस्त क्षुधित उद्विग्न और व्याकुल रहते हैं और नित्य भय को प्राप्त होते हैं। वे हमेशा अशुभ और अतुल परमाणुओं से अनुबद्ध होते हैं। इस तरह नरक में उत्पन्न हुए जीव पीड़ा का अनुभव करता हुआ अपने दिन निर्गमन करते हैं।

नेरइयाणं भंते ! केवइकालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥१२॥

[जीवा प्रति ३, उ ३, सू० १११]

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकीय जीवों की स्थिति कितने काल की है ?

उत्तर—हे गौतम ! नारकीय जीवों की स्थिति जघन्य से दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट से तेतीस सागरोपम की है।

धारा ४०

शिक्षापद

इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं नरा ॥१॥

[सू० श्रु १ अ १५ गा १५]

इस मनुष्य-लोक में धर्म की आराधना करने के लिये ही मनुष्यों की उत्पत्ति है।

जाइमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे ॥२॥

[आ श्रु १ अ० २ उ ३]

जन्म-मरण के स्वरूप को भलीभांति जानकर चारित्र में दृढ होकर विचरे।

कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ॥३॥

[आ श्रु० १ अ० ४ उ० ३]

(तपश्चरण द्वारा) अपने आपको कृश करो अपने आपको जीर्ण करो।

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं ॥४॥

[उत्त० अ १३ गा १०]

मनुष्यों का अच्छा किया हुआ सब कर्म सफल होता है।

सव्वं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुविज्ज सासयं ॥४॥
[उत्त० अ० ९, गा २६]

जो पुरुष मार्ग में घर बनाता है वह निश्चय ही संशय-ग्रस्त कार्य करता है। जहाँ पर जाने की इच्छा हो वहीं पर शाश्वत घर बनाना चाहिये।

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जइ ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥५॥
[सू श्रु १ अ ८, गा ७]

एक मनुष्य ने किसी के साथ वैर किया, फिर वह अनेक प्रकार के वैर करता है और इन वैरों से सुखी होता है किन्तु वह जानता नहीं कि सभी दुष्प्रवृत्तियाँ पापमय होती हैं और अन्त में वे दुःख का ही अनुभव कराती हैं।

किरियं रोयए धीरा, अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठीसम्पन्ने, धम्मं चर सुदुच्चरं ॥७॥
[उत्त अ १८, गा ३३]

धीर पुरुष क्रिया में रुचि करे और अक्रिया का परित्याग कर देवे। वह सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर धर्म का आचरण करे जो कि अतिदुष्कर है।

कोई मायं निगिण्हित्ता, मायं लोभं च सव्वसो ।
इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उवसंहरे ॥८॥
[उत्त० अ० २२, गा० ३८]

क्रोध मान माया और लोभ को जीतकर तथा पाँचों इन्द्रियों को वश में कर अपनी आत्मा का उपसहार करना चाहिये अर्थात् प्रमाद की ओर बढ़ी हुई आत्मा को पीछे हटाकर धर्म म स्थिर करनी चाहिये।

अस किर्ति सिलोग च, जा य वदणपूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा, त विज्ज परिजाणिया ॥९॥
[सू० श्रु १ अ ६ गा ११]

यश कीर्ति प्रशसा, वन्दन पूजन और सर्व लोक म जो भी काम-भोग है इनको अपकारी समझकर छोड़ देना चाहिये।

अट्टापय न सिक्खिज्जा, वेहाइय च णो वए ॥१०॥
[सू० श्रु १ अ ६ गा १७]

जुआ खेलना मत सीखो और धर्म के विरुद्ध मत बोलो।

आवण्णा दीहमद्धाण, ससारम्मि अणन्तए।
तम्हा सव्वदिस पस्स, अप्पमत्तो परिव्वए ॥११॥
[आचा अ ६, गा ११]

अज्ञानी जीव इस अनन्त संसार में जन्म-मरण के बड़े लम्बे चक्कर में पड़े हुए है। इसलिए उनकी सारी दिशाओं का अवलोकन करता हुआ मुमुक्षु पुरुष सदा प्रमादरहित होकर इस ससार मे विचरे।

जे रक्खसा वा जमलाइया वा,
जे वा सुरा गधव्वा य काया

आगासगामी य पुढोसिया जे,
पुणो पुणो विपरिया सुवेन्ति ॥१२॥
[सू श्रु १ अ १२, गा ११]

जो राक्षस हैं जो यमपुरवासी हैं जो देव हैं जो गन्धर्व हैं और जो अन्य कायावाले हैं तथा आकाशगामी अथवा पृथ्वीनिवासी हैं वे सभी मिथ्यात्व आदि कारणों से ही बार-बार भिन्न भिन्न रूप में जन्म धारण करते हैं।

इहमेगे उ भासन्ति, साय सायेण विज्जई।
जे तत्थ आरिय मग्गं, परमं च समाहियं ॥१३॥
[सू श्रु १ अ ३ उ ४ गा ६]

कोई कहते हैं कि सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है किन्तु यह सत्य नहीं है। उसमें जो आर्यमार्ग है वही परम-समाधि देनेवाला है।

मा एय अवमन्नन्ता अप्पेण लुम्पहा बहुं।
एयस्स उ अमोक्खाए, अयोहारि व्व जूरह ॥१४॥
[सू श्रु १ अ ३ उ ४ गा ७]

इस परम-मार्ग की अवज्ञा करके अल्प सुख के लिये बहु सुख का नाश मत करो। भोग-मार्ग अमोक्ष का है। जो तुम इतना नहीं समझोगे, तो लोहे के बदले सोना न लेनेवाले वणिक की तरह पश्चात्ताप करोगे।

जहा य अण्डप्पभवा बलागा,
अण्डं बलागप्पभवं जहा य।

एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥१५॥
[उत्त० अ० ३२ गा ६]

जैसे बगुला की उत्पत्ति अंडा से और अंडा की उत्पत्ति बगुला से होती है, इसी प्रकार तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान मोह है और मोह की उत्पत्ति का स्थान तृष्णा है ।

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ॥१६॥
[सू श्रु १ अ २,उ १ गा ३]

जो माता पिता (पत्नी पुत्र आदि) मे मोह करता है उसको परलोक मे सद्गति सुलभ नही है ।

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥१७॥
[उत्त अ १ गा १७]

वचन से अथवा काया से लोगों के समक्ष अथवा एकान्त में आचार्यों के प्रतिकूल आचरण कदाचित् भी नही करना चाहिये ।

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किंवा नाहिइ छेय-पावगं ॥१८॥
[दश अ ४ गा १]

प्रथम ज्ञान है पीछे दया । इसी प्रकार सर्व संयत-वर्ग स्थित

है अर्थात् मानता है। अज्ञानी क्या करेगा? वह पुण्य और पाप का मार्ग को क्या जानेगा?

> ताणि ठाणाणि गच्छन्ति,
> सिक्खित्ता संजमं तवं।
> भिक्खाए वा गिहत्थे वा,
> जे संति परिनिव्वुडा ॥१९॥
> [उत्त अ ५, गा २८]

पूर्वोक्त स्थानों को (देवलोक को) वे ही साधु अथवा गृहस्थ प्राप्त होते हैं, जो कि संयम और तप के अभ्यास से कषायों से रहित हो गए हैं।

> दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
> मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं ॥२०॥
> [दश अ ५, उ १ गा १]

इस संसार में निःस्वार्थ बुद्धि से देनेवाले दाता और निःस्वार्थ बुद्धि से लेनेवाले साधु—दोनों ही दुर्लभ हैं। अतः ये दोनों ही सद्गति प्राप्त करते हैं।

> जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
> काएण वाया अदु माणसेणं।
> तत्थेव धीरा पडिसाहरिज्जा,
> आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥२१॥
> [दश चू० २, गा० १४]

अपने आप को जब मन से वचन से एवं काया से स्खलित होता हुआ देखे तब संयमी पुरुष को शीघ्र ही संभल जाना चाहिये। जिस प्रकार जातिवन्त शिक्षित घोड़ा नियमित मार्ग पर चलने के लिये शीघ्र ही लगाम को ग्रहण करता है उसी प्रकार साधु भी संयम मार्ग पर चलने के लिए सम्यक् विधि का अवलम्बन करे।

मीए जहा सुद्धमिगा चरंता,

दूरे चरति परिसंकमाणा।

एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,

दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२२॥

[सू० श्रु० १ अ० १ उ० २]

अरण्य में विचरते हुए शुद्ध वनपशु जिस तरह (अपने को उपद्रव करनेवाले) शेर की शंका से दूर ही दूर रहते हैं उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष धर्म को विचारकर (अपने को उपद्रव करनेवाले) पापों से अति दूर रहे।

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।

अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥२३॥

[भग० श० २, उ० ५]

ज्ञानियों की पर्युपासना करने से धर्म-श्रवण की प्राप्ति होती है। धर्म-श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) की प्राप्ति होती है। विज्ञान से प्रत्याख्यान (विरति)

है अर्थात् मामता है। अज्ञानी क्या करेगा? वह पुण्य और पाप का मर्म को क्या जानेगा?

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति,
सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा,
जे संति परिनिव्वुडा ॥१९॥
[उत्त० अ० ५, गा० २८]

पूर्वोक्त स्थानों को (देवलोक को) वे ही साधु अथवा गृहस्थ प्राप्त होते हैं जो कि संयम और तप के अभ्यास से कषायों से रहित हो गए हैं।

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं ॥२०॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० १००]

इस संसार में निस्वार्थ बुद्धि से देनेवाले दाता और निस्वार्थ बुद्धि से लेनेवाले साधु—दोनों ही दुर्लभ हैं। अतः ये दोनों ही सद्गति प्राप्त करते हैं।

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
कायेण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरा पडिसाहरिज्जा,
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥२१॥
[दश० चू० २, गा० १४]

अपने आप को जब मन से वचन से एवं काया से स्खलित होता हुआ देखे तब संयमी पुरुष को शीघ्र ही संभल जाना चाहिये। जिस प्रकार जातिवन्त सिखित घोड़ा नियमित मार्ग पर चलने के लिये शीघ्र ही लगाम को ग्रहण करता है उसी प्रकार साधु भी संयम मार्ग पर चलने के लिए सम्यक् विधि का अवलम्बन करे।

> मीइ सदा खुड्डमिगा चरंता,
> दूरे चरंति परिसंकमाणा।
> एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,
> दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२२॥
> [सू० सु० १, अ० १ गा० ३]

अरण्य में विचरते हुए क्षुद्र वनपशु जिस तरह (अपने को उपद्रव करनेवाले) शेर की शंका से दूर ही दूर रहते हैं उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष धर्म को विचारकर (अपने को उपद्रव करनेवाले) पापों से अति दूर रहे।

> सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
> अणण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥२३॥
> [भग० श० २ उ० ५]

ज्ञानियों की पर्युपासना करने से धर्म-श्रवण की प्राप्ति होती है। धर्म-श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) की प्राप्ति होती है। विज्ञान से प्रत्याख्यान (विरति) की

वचनों का अकारादि क्रम

प्रथम वचन का आद्य भाग दिया है बाद में पृष्ठांक। जहाँ पूर्वार्द्ध बिलकुल समान है, वहाँ द्वितीय पद की भिन्नता दिखलाने के लिए उसका प्रथम शब्द वचन के सामने कोष्ठ में दिया गया है।

ओ

क

ख

स

-

—०—